श्रीहरिः

* श्रीहरिः *

श्रीगीता-ज्ञान-यज्ञ

आगामी कुंभके अवसरपर प्रयागमें होनेवाले श्रीगीता-ज्ञान-यज्ञके लिये महामना पूज्यवर मालवीयजीका निवेदन तथा अन्य सूचनाएं 'कल्याण' के गताङ्कोंमें प्रकाशित की जा चुकी हैं। इस पुनीत अवसरपर पधारकर सर्वसाधारणको सन्त-दर्शन, तीर्थ-स्नान, गीता-प्रवचन और संकीर्तन आदिके श्रवणद्वारा लाभ उठानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस सार्वभौम धर्मग्रन्थकी साहित्य-वृद्धिके लिये सन्त-महात्माओं और प्रेमी लेखकोंसे नम्रनिवेदन है कि वे गीतापर अपने मौलिक और भावपूर्ण लेख भेजनेकी अवश्य कृपा करें। निबन्ध-सूची अन्य पत्रोंमें शीघ्र ही प्रकाशनार्थ जायगी। प्रदर्शनीके लिये सब प्रकारका गीता-सम्बन्धी साहित्य शीघ्र ही भिजवाना चाहिये।

तारका पता—

'गीता'–Gita

नम्र निवेदक—

प्रबन्धक,

गीता-ज्ञान-यज्ञ, त्रिवेणी-तट प्रयाग।

तृतीय वर्षकी फाइल

'भक्तांक' स्टाकमें नहीं रहा, जिनको भक्तांक चाहिये, उनको तीसरे वर्षकी फाइल मँगवा लेनी चाहिये, पूरी फाइल विना जिल्द ४॥=) में मिल सकेगी। डाकमहसूल अलग नहीं लगेगा। इसमें भक्तांकके अतिरिक्त तीसरे वर्षकी ११ संख्याएं और हैं। पूरी फाइलमें भक्तांकके २५० पृष्ठों सहित सब मिलाकर–११२८ पृष्ठ हैं, जिनमें विविध विषयोंपर भिन्न भिन्न विद्वानोंके लिखे हुए करीब ४०० से ऊपर लेख और ७२ सुन्दर चित्र हैं जिनमें २७ तो तिरंगे हैं! सजिल्द मँगानेवालोंको ४॥=) देने पड़ेंगे।

द्वितीय वर्षकी फाइल

—बहुत थोड़ी प्रतियां बची हैं, मँगानेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये। मूल्य विना जिल्द ३=) सजिल्द ३॥=)

प्रथम वर्षकी फाइल

प्रायः २५ ही स्टाकमें हैं, अतएव लेनेवालोंको तुरन्त लिखना चाहिये। दाम सजिल्द ३॥) तीसरे अङ्कके सिवा बाकी ११ अङ्कोंका २॥=)।

भगवन्नामांक

—अभी कुछ बचे हैं, ११० पृष्ठ ४१ चित्र, भगवन्नामपर अनेक विचारपूर्ण लेख हैं। शीघ्र मँगवाना चाहिये। मूल्य अजिल्द ॥=) सजिल्द १)।

गीताङ्क

अनेक विद्वानों और पत्र पत्रिकाओंद्वारा प्रशंसित इस वर्षका विशेषांक ५०० से अधिक पेज १८० चित्रों सहित। मूल्य २॥=) सजिल्द ३=)।

छप गये

१–श्रीमद्भगवद्गीता १।) वाली।

२–[illegible] (लेखक–श्रीवियोगी हरिजी) मूल्य १।) सजिल्द १॥)

मैनेजर, कल्याण

बालरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र।

Lakshmibilas Press, Calcutta.
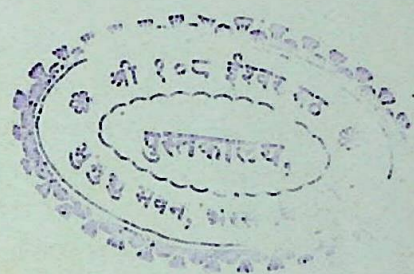
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
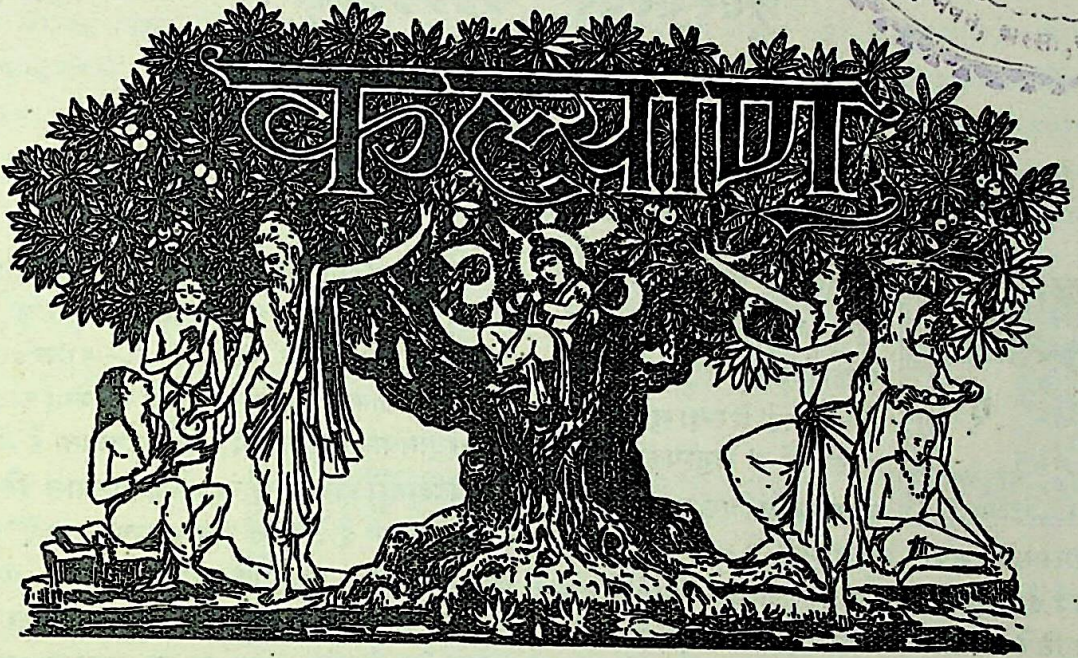
यस्य स्वादुफलानि भोक्तुमभितो लालायिताः साधवः ,
भ्राम्यन्ति ह्यनिशं विविक्तमतयः सन्तो महान्तो मुदा ।
भक्तिज्ञानविरागयोगफलवान् सर्वार्थसिद्धिप्रदः ,
सोऽयं प्राणिसुखावहो विजयते कल्याणकल्पद्रुमः ॥

भाग ४ } पौष कृष्ण ११ संवत् १९८६ { संख्या ६

ईश्वरकी निर्लेपता

नहिं द्वैत अद्वैत हरि नहीं विशिष्टाद्वैत ।
बँधे नहीं मतवादमें ईश्वर-इच्छा द्वैत ॥
ईश्वर-इच्छा द्वैत, करैं सबहीको पोषन ।
आपु रहैं निरलेप, भगतसों मानै तोषन ॥
'भगवतरसिक' अनन्य संग डोलैं गलबाहीं ।
करैं मनोरथ-सिद्धि उचित अनुचित कछु नाहीं ॥

—श्रीभगवतरसिकजी

शोभाधाम श्रीराम

(लेखक—साधु टी० एल० वास्वानी)
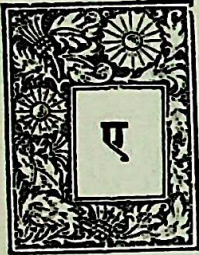
एक फ्रांसीसी लेखककी छोटी-सी सुन्दर उक्ति है कि 'जिन जातियोंका पवित्र उत्साह-स्रोत कभी सूखता नहीं वे सदा सुखसम्पन्न रहती हैं।' मनुष्यका जीवन दुरात्मभाव पर नहीं प्रत्युत आत्मसम्मानपर अवलम्बित है। दुरात्मभावका अर्थ है पूर्णज्ञानका अभाव—आत्मदौर्बल्य। मानव-जातिके सर्वसमर्थ अधीश्वर श्रीरामचन्द्रजीके कारण दीपावलीका दिवस परम पवित्र माना जाता है। 'राम' शब्दके अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ आनन्दमें रमनेवाला है तो दूसरा शोभाधाम भी इसीका अर्थ है। श्रीरामके विश्वविमोहन होनेका हेतु क्या है—रहस्य क्या है? उनके कमनीय कलेवरके वर्णनसे प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं। उनके दिव्य जीवनसे यह निश्चित हो जाता है कि बलिष्ठ आत्माका निवास सुदृढ़ शरीरमें ही हो सकता है। उनके गुरु थे ऋषि वशिष्ठ, जिनसे वे धनुर्विद्याकी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। श्रीराम इस कलामें बड़े निपुण थे। वे मनोहर थे—रूपके घर थे! उनकी तपश्चर्या भी उच्च कोटिकी थी। हम तुच्छ जीव साधारण तपस्या—थोड़ेसे कष्ट-सहनके अभ्यासको गुरुतर भार समझने लगते हैं! मनुष्यकी महत्त्वपूर्ण परीक्षा तभी होती है जब उसे दुःख-दैन्यमय परिस्थितिका सामना करना पड़ता है! जब सुखका सूर्य अस्ताचलगामी हो जाता है—विपत्तिकी घटाएं उमड़ने लगती हैं, उस समय यदि आत्मदृढ़ता स्थिर रहे तो निस्सन्देह हम वीर हैं।

शोकसे कण्ठावरुद्ध दशरथके दर्शनार्थ श्रीराम जा रहे हैं। कल ही उनका राजतिलक होनेवाला है। अकस्मात् रंगमें भंग पड़ जाता है—राजमहलमें कलह-राक्षसीका प्रवेश हो जाता है। कैकेयी राजाको वरदानवाली प्रतिज्ञाकी स्मृति करवाती है और एक वरदानसे रामको चौदह वर्षका वनवास देनेका आग्रह करती है! "प्राण जाय बरु वचन न जाई" का सिद्धान्त राजा दशरथके सामने है किन्तु अपने प्रियतम पुत्रको वनवासकी कठोर आज्ञा कैसे दी जाय? पिताके इस असमञ्जसका अनुभव करके पुत्र तुरन्त बोल उठता है-'मैं इसी क्षण वनप्रस्थानके लिये प्रस्तुत हूं!' श्रीरामके जीवनमें यह घटना कितनी महत्त्वपूर्ण है! उनका त्याग—उनकी तपस्या कैसी मनोहर है?

हनुमान्‌जीके साथ उनकी मैत्री भी बड़ी अनुपम है! कपिराज भी ऐसे शक्तिशाली महापुरुषके प्रेमके सर्वथा योग्य अधिकारी थे। वे अनपढ़ होते हुए भी हम जैसे प्रगाढ़ पण्डितोंसे बढ़कर थे। हमें अपनी थोड़ीसी योग्यताका अभिमान हो उठता है किन्तु भक्तिके बिना विद्या किस कामकी? वे ब्रह्मचारी और भक्त थे। उनके चरणोंमें मेरा सादर अभिवन्दन है। मेरे विचारसे भारतवर्षमें श्रीरामके समान ही भक्तवर श्रीपवनसुतकी पुण्य-स्मृति मनाई जानी चाहिये—सीतारामके साथ ही हनुमान्-राम कहा जाना चाहिये। इनके साथ मैत्री किये बिना लङ्कापर विजय प्राप्त न हो सकती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीरामचन्द्रजी बड़े थे परन्तु भक्तिके कारण हनुमान्‌जी भी कम न थे।

इनके बिना न तो पुल ही बन सकता और न रावण ही परास्त किया जा सकता ! अतः आइये ! इन दोनोंके नाममें किसी प्रकारका भेद न रख इनकी निष्कपट प्रीतिको सच्ची मित्रताका आदर्शस्वरूप समझें !

काशीमें एक मन्दिर है, जहाँ एक सुन्दर प्रतिमामें हनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीको अपने कन्धोंपर उठाये हुए हैं। मूर्ति बड़ी रम्य है—भावपूर्ण है। श्रीरामको भी ऊपर उठनेके लिये हनुमान्‌की आवश्यकता पड़ती है। इसी भावके साथ यहां ठहरना ठीक होगा कि श्रीराम बड़े होनेपर भी अपेक्षा रखते हैं हनुमान्‌की—आवश्यकता समझते हैं भक्तोंकी ! हमें अपने कन्धोंपर श्रीरामको उठाना है किन्तु बिना भक्तिके यह सम्भव नहीं। अपने प्रभु श्रीरामका मंगलमय सन्देश संसारको सुनानेके लिये व्यवहार-चतुर कहलानेवाले पण्डितोंकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है हनुमान् सरीखे व्यक्तियोंकी—भक्ति और विशुद्ध भावनाओंसे युक्त भक्तोंकी। जीर्ण-शीर्ण जातिकी इस समय यही माँग है—यही आवश्यकता है !!

दास्य और तुलसीदास*

अहो ! तुलसीका दास्य-भाव ! भक्तिका पूर्ण परिपाक भक्ति-भास्कर गोसाईंजीकी दास्य-रतिमें ही देखा जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि सेवक-सेव्य-सम्बन्धका जैसा चारु चित्रण तुलसीके भव्य भावना-भवनमें दृष्टिगोचर होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। इस महामहिम महात्माका कितना ऊँचा दास्य-प्रेम है, कितना गहरा सेव्य-भाव है ! त्रिताप-सन्तप्त चिरपिपासाकुल परिश्रान्त पथिकोंके लिये तुलसीने, अहा ! पुण्यसलिला भक्ति-भागीरथीकी कैसी करुणामयी धारा बहायी है ! 'विनयपत्रिका' में वर्णित दास्यरति तो, वास्तवमें, विश्व-साहित्यमें एक है, अद्वितीय है। क्या दीनता, क्या भर्त्सना, क्या मान-मर्षता, क्या भय-दर्शना आदि सप्त भूमिकाओंमें विनयके पद अनुपमेय हैं, अतुलनीय हैं। 'सेवक-सेव्य-भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' गोसाईंजीकी इस दृढ़ धारणाने उनकी रुचिर रचनाकी प्रत्येक पंक्तिमें दास्य-रतिका सजीव चित्र अङ्कित कर दिया है। उनकी सेव्य-सेवक-भावनाको देखकर एक बार तो नीरससे भी नीरस हृदय कह उठेगा, कि धन्य है तुलसीकी भक्ति-भारती ! अस्तु।

एक ही अभिलाषा है, एक ही लालसा है। वह यह है, कि—

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै।

पर वह चरण-शरण मिले कैसे ? यह मन महान् मूढ़ है। इस मनकी कुछ ऐसी मूढ़ता है, कि—

परिहरि राम-भक्ति-सुर-सरिता आस करत ओस-कनकी !

राम-भक्ति-भागीरथीको छोड़ यह मूढ़ आज ओसकणोंकी आशा कर रहा है ! इसकी मूढ़ताका कुछ पार ! भला, देखो तो—

महा मोह-सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यौ।
श्रीहरि-चरन-कमल-नौका तजि फिरि-फिरि फेन गह्यौ॥

* गीताप्रेससे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले "प्रेमयोग" नामक ग्रन्थसे। —सम्पादक

कैसा निरंकुश है मेरा यह मन-मातंग ! यह दुर्जय कैसे जीता जाय—

हौं हारयौ करि जतन विविध विधि अतिसै प्रबल अजै।

हाँ, अब यही एक उपाय है, कि—

तुलसिदास, बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।

वह लीलामय प्रेरक प्रभु ही कभी कृपाकर इसे अपने वशमें करा दें तो हो सकता है; नहीं, तो नहीं। पर इस ओर भला वह क्यों देखने चले ! वह तो मुझे, न जाने कबसे, भुला बैठे हैं। समझमें नहीं आता, कि क्यों ऐसा व्यवहार मेरे साथ किया गया—

काहे तें हरि मोहिं बिसारो ?
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो !

लो, कह तो दो आज साफ़-साफ़ अपने मनकी सारी बातें। आख़िर मुझे भुला क्यों दिया, मेरे मालिक ? तुमने अपने सेवकोंके दोषोंपर न्याय्य विचार किया, तो हो चुका ! पर ऐसा तुम करोगे नहीं, विचाराधीश ! अपने दासोंके दोषोंको यदि तुम मनमें लाते होते, तो बड़े-बड़े धर्म-धुरन्धरोंको छोड़कर व्रजके गँवार ग्वालोंके बीच क्यों बसने जाते ? अछूत भीलनीके जूठे बेर क्यों खाते ? दासी-पुत्र विदुरके घरका साग-पात क्यों आरोगते ? तुम्हारे सम्बन्धमें तो यही प्रसिद्ध है, कि—

निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत, सदा यह रीति।

देखो न—

जाकी माया-बस बिरञ्चि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो॥

इससे तो अब यही जान पड़ता है, कि तुम्हें न तो कुलीन धनी ही प्यारे हैं, और न पण्डित या ज्ञानी-ध्यानी ही। तुम्हें तो, नाथ, अपने दीन-दुर्बल दास ही प्यारे हैं। तुम्हारा नाम ही ग़रीबनिवाज है। पर मुझे ही क्यों अबतक नहीं अपनाया ? मैं क्या कहींका धन्नासेठ हूँ ? बात कुछ समझमें नहीं आती, कि तुम्हारी कैसी रीझ है। हाँ, इतना तो समझता हूँ, कि मैं तुम्हारा हूँ, और तुम्हारा ही मुझपर अखण्ड अधिकार होना चाहिये। मैं अपनी इस समझको भ्रान्ति कैसे मान लूँ ? अच्छा, तुम्हारा नहीं, तो बताओ, फिर किसका हूँ ? मुझे आज तुम छोड़ रहे हो ! यह क्या कर रहे हो, प्रभो, ज़रा याद तो करो वे दिन—

छारतें सँवारिकै पहारहूतें भारी कियो,
गारो भयो पंचमें पुनीत पच्छ पाइ कै;
हौं तो जैसो जब तैसो अब, अधमाई कै-कै
पेट भरौं, राम, रावरोई गुन गाइ कै।
आपने निवाजेकी पै कीजै लाज, महाराज !
मेरी ओर हेरि कै न बैठिये रिसाइ कै;
पालिकै कृपालु, ब्याल-बालहू न मारिये, औ
काटिये न, नाथ ! बिषहू कौ रुख लाइ कै॥

तुम्हारे पालितकी आज यह दशा ! 'रामदास' होकर क्या मुझे अब 'कलिदास' होना पड़ेगा ? अपनी मुझे कोई चिन्ता नहीं। दुःख इतना ही है कि, नाथ, जिस हृदय-भवनमें तुम्हें रहना चाहिए, उसमें आज चोर और लुटेरे अपना अड्डा जमानेकी घात लगा रहे हैं ! क्या उनकी यह ज़्यादती तुम्हें सहन होगी ?

मम हृदय भवन, प्रभु, तोरा। तहँ बसे आइ, प्रभु, चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
कह तुलसिदास, सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

तनिक सोचो तो, चोर-लुटेरोंके हाथसे तुम्हारे घरका लुट जाना क्या कम बदनामीकी बात होगी ? मुझे, बस, इतनी ही चिन्ता है, कि कहीं संसारमें तुम्हारा अपयश न फैल जाय, तुम्हारी सारी बनी-बनायी बात न बिगड़ जाय। मैं तुम्हारे मकानकी यों कबतक रखवाली करता रहूँगा। अभी कुछ गया नहीं, आकर सँभालते बने तो सँभाल लो। पीछे

फिर मैं तुम्हारे घरका जिम्मेवार नहीं। लो, फिर मुझे कोई दोष न देना।

× × ×

इतने निठुर तुम पहले कब थे? तुम्हारे स्वभावमें कहाँसे इतनी निठुराई आ गयी, करुणासागर? आश्चर्य है!

जद्यपि, नाथ, उचित न होत अस,प्रभुसों करौं ढिठाई।
तुलसिदास, सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई॥

यह जानता हूँ, कि स्वामीके साथ ढिठाई करना ठीक नहीं है; पर करूँ क्या? आर्त्त हूँ, जो न करूँ सो थोड़ा। आज ढिठाई भी करनी पड़ी है। कहाँ तक चुप रहूँ! कहोगे, कि आखिर तू कहना क्या चाहता है, कैसी ढिठाई करेगा? तो, सुनो; क्षमा करना, क्योंकि मैं जड़ हूँ। मुझे कहना ही क्या है, केवल यही कहना है कि 'तुम निठुर हो।' निठुर तो हो तुम, पर दुःख होता है मुझे! बात यह है, कि मैं अपने स्वामीको नितान्त निर्दोष देखना चाहता हूँ। लोगोंका यह कहना, कि 'तुलसीका मालिक बड़ा निर्दय है,' मुझे कैसे सह्य हो सकता है? तुम्हारी निठुराईका यह दोष सुनकर कहीं क्रोध आ गया और किसीसे लड़-झगड़ बैठा तो तुम्हें और भी बुरा लगेगा। इसलिये और नहीं तो कमसे कम मेरा दुःख दूर करने या व्यर्थका लड़ाई-झगड़ा बचानेके लिये ही निठुराईकी यह नयी आदत तो, सरकार, छोड़ ही दो। इसमें तुम्हारा बिगड़ता ही क्या है?

गोसाईंजीके कहनेका कैसा निराला ढंग है! इस ज़रासे इशारेमें ग़ज़बका ज़ोर भर दिया है। यों भी तो कहा जा सकता था, कि 'तुम बड़े निठुर हो, जो मुझे निहाल नहीं करते।' पर इसमें वह बात कहाँ, जो,

'तुलसिदास सीदत निसिदिन, देखत तुम्हारि निठुराई'

में है। इतनेपर भी क्या तुलसीके निठुर नाथ निठुर ही बने रहेंगे?

यह तो कह ही चुका हूँ, कि मैं आर्त्त हूँ, अतएव विवेकहीन हूँ। आर्त्तके कहनेका कोई बुरा नहीं मानता। अपनी जड़ताके वश होकर कभी-कभी तो मैं तुम्हारे किये सारे उपकारोंको भुला बैठता हूँ। पर क्या मैं सचमुच ही कृतघ्न हूँ? न, मैं कृतघ्न नहीं हूँ; स्वामिन्! तुम्हारे अगणित उपकारोंको, भला, मैं भूल सकता हूँ। नाथ, तुमने मुझे क्या नहीं दिया। पर अभी मेरी तृष्णा-पिपासा शान्त हुई नहीं। एक लालसा पूरी होनेको अभी और है। वह यह, कि—

बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं, होत कबहुं पल एक।
तातें सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि बनसी पद-अंकुस, परमप्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥

मेरा मनरूपी मीन विषयरूपी जलसे एक क्षण भी अलग नहीं होता। यह विषयी मन विषाक्त वासनाओंसे तनिक भी नहीं हटता। इसीसे मुझे जन्म-मरणका दारुण दुःख सहना पड़ रहा है। कबसे विविध योनियोंमें जन्म लेता और मरता हूँ। इस विपत्तिसे त्राण पानेका, बस, एक उपाय शेष रह गया है। वह यह है, कि अब अपनी कृपाकी तो बनाओ रस्सी और तुम्हारे चरणमें जो अंकुश (चिह्न) है, उसका बनाओ काँटा। उसमें परम प्रेमका कोमल चारा चपका दो। बस, फिर मन मीनको छेदकर विषय-वारिसे बाहर निकाल लो, जिससे वह एकवृत्त होकर सदा तुम्हारा ही भजन करता रहे। मेरा दारुण दुःख एक इसी उपायसे दूर हो सकता है। यह 'मनोमत्स्य-वेध' नाथ, तुम्हारे लिये बड़ा कुतूहलजनक होगा।

इसके बाद मैं क्या करूँगा, सो सुनो—

जानकी-जीवनकी बलि जैहौं।
नातो नेह नाथ सों करि, सब नातो नेह बहैहौं॥

क्योंकि तुम्हारे साथका नेह-नाता ही इस जीवनका एकमात्र सारभाग है। तुम्हारे बिना जीना, जीना नहीं। वह जीवन ही किस कामका, जिसमें तुम न हो, तुम्हारा प्रेम न हो—

तिनतें खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
'तुलसी' जेहि रामसों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ विषान न द्वै॥
जननी कत भार-मुई दसमास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै?
जरि जाउ सो जीवन, जानकी-नाथ! जियै जगमें तुम्हरो बिन ह्वै॥

मैं तो मान चुका हूँ कि तुम मेरे स्वामी हो, पर तुमने भी, नाथ, स्वीकार कर लिया है या नहीं कि, 'तुलसी हमारा है?' न किया हो तो अब कर लो। शायद तुम मेरी छोटाईसे डरकर मुझे अंगीकृत नहीं कर रहे हो। यह बड़ी आफ़त है। एक ओर 'दीनबन्धु' कहलानेका शौक़ और दूसरी ओर दीनोंके साथसे घिन! दोनों बातें एक साथ कैसे निभ सकती हैं। यदि तुम मेरी लघुतासे न डरो तो एक पन्थ दो काज सध जायँ। मैं 'सनाथ' हो जाऊँ, और तुम्हें 'अनाथ-पति' की उपाधि मिल जाय। कहो, हो राजी?

हौं सनाथ ह्वैहौं सही· तुमहुँ अनाथ-पति,
जो लघुतहि न भितैहौ।

लघुतासे डरना कैसा? बड़ा-ख्याल करनेकी बात है-छोटेसे क्यों डरने चला? यह तो कुछ अजीब-सी बात है। नहीं, बात ठीक सीधी-सी है। बड़े लोग बहुधा छोटोंसे डरा करते हैं। बात करना तो बहुत दूर है, वे उनके सामने भी नहीं जा सकते। उन्हें यही भय लगा रहता है, कि कहीं हम छोटे लोगोंके पास खड़े हो गये तो दुनियाँ क्या कहेगी, ज़रूर हमारे बड़प्पनमें कुछ धब्बा लग जायगा। इससे, वे बड़े लोग छोटोंसे दूर ही रहते हैं। पर तुम ऐसा मत करो। मेरी लघुतासे भयभीत न होओ। अब तो, चाहे कुछ भी हो, इस दीनको अभी, अंगीकार कर ही लो। नाथ, मुझे अपनाते हुए कभी अपना वह कर-सरोज मुझ अनाथके सिरपर रखोगे? हाँ, वही अनन्त कृपामय कर-कमल—

सीतल सुखद छाहँ जेहि करकी मेटति पाप ताप माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोजकी चाहत तुलसिदास छाया॥

चाहनेसे क्या होगा! उस कर-सरोजकी छाया प्रेमलक्षणा पराभक्तिसे ही प्राप्त हो सकेगी। सो, वह बड़ी कठिन है; केवल कृपा-साध्य है—

कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई।

× × × ×

कितनी बार कहलाना चाहते हो, कि 'मैं केवल तुम्हारा ही हूं?' क्या तुम्हें मेरे इस कथनमें कुछ सन्देह है? जो मैं यह कहूँ, कि मैं तुम्हारा नहीं, किसी औरका हूँ, तो मेरी यह जीभ गल-गलकर गिर जाय। मैं किसीका बनना भी चाहूँ, तो मुझे अंगीकार करेगा ही कौन? मुझे तुम-सा अकारण हितू अन्यत्र कहाँ मिलेगा? और, मुझ निठल्लेसे किस भले आदमीका कोई काम पूरा हो सकेगा? न तो मुझे कोई अपनी सेवामें रखेगा, और न मैं किसीके द्वारपर जाऊँगा। मैं तो तुम्हारा हूँ और तुम्हारा ही होकर रहूँगा—

खेलबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो, राम, ह्वै रहिहौं।
एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥

जो कहो, कि जा, तुझे हमने अपना लिया, तो यों मैं माननेवाला नहीं। अंगीकृतके लक्षण ही कुछ और होते हैं, स्वामिन्!

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाउ विषयनि लग्यौ,
तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥
सुतकी प्रीति, प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँविधि
चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि-मरिहै।
हानि-लाभ दुख-सुख सबै समचित,
हित-अनहित, कलि-कुचाल परिहरिहै॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नैननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो रामको,
बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमँगि उर भरिहै॥

सो, इस दशाका तो अभी यहाँ शतांश भी प्राप्त नहीं हुआ। अभी मेरा मन विषयोंकी ओरसे कहाँ फिरा है। अभी तो मैं कामदास ही हूँ,

रामदास नहीं। यह मन जिस सहजभावसे विषयोंमें आसक्त हो रहा है, उसी भावसे, छल-कपट छोड़कर, जब यह तुमसे प्रेम करने लगेगा, तब जानूँगा, कि मैं अब अंगीकृत हो गया। जिसे तुमने अपना लिया, वह तुम्हें चातककी चाहसे चाहेगा। न वह सम्मान-लाभसे प्रसन्न ही होगा और न तिरस्कृत होनेपर डाहसे जल ही मरेगा। हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि समस्त द्वन्द्वोंको वह एक-सा समझेगा। अभी मेरा विषयी मन न तो तुम्हारा गुण-गान सुनकर प्रफुल्लित ही होता है और न इन अभागिनी आँखोंसे प्रेमाश्रु-धारा ही बहती है। फिर मैं कैसे मान लूँ, कि तुमने अपने अंगीकृत जनोंकी सूचीमें तुलसीका भी नाम लिख लिया है। मुझे भूल-भुलैया में न छोड़ो, मेरे हृदय-सर्वस्व! अशरण-शरण, मुझे अंगीकृत करके ही तुम कपने विरदकी लाज रख सकोगे। तुम्हें रिझाने लायक और कोई गुण तो मेरे पास है नहीं; हाँ, एक निर्लज्जता निस्सन्देह है, आज उसीपर रीझ जाओ। तुम्हारी रीझ अनोखी तो है ही—

खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसीकी निलजई।

सच मानो, नाथ, तुम्हारे त्याग देनेपर मैं कहीं-का न रहूँगा। मेरा भला तुम्हारे ही हाथ होगा। सो जैसे बने तैसे अंगीकार कर लो। अधिक क्या कहूँ, तुम तो सब जानते हो। तुमसे छिपा ही क्या है! जीवनकी अवधि अब बहुत दूर नहीं है—

'तुलसिदास' अपनाइये, कीजै न ढील,
अब जीवन-अवधि अति नेरे।

अपनी यह 'विनयपत्रिका' तुम्हारे दरबारमें भेजता हूँ। इतनी अर्ज़ और है, कि—

विनय-पत्रिका दीनकी, बाप! आपही बाँचो।

राज-दरबारमें अकसर धाँधली हो जाया करती है। तुम्हारे दरबारमें भी, सम्भव है, यह पत्रिका किसी ऐसे मन्त्री या पेशकारके हाथमें पड़ जाय, जो तुम्हारी पेशीमें इसे कुछ घटा-बढ़ाकर पढ़ दे। इसलिये इसे 'आप ही बाँचो।' पिताजी, कृपाकर स्वयं ही इस दीनकी पत्री पढ़ लेना।

हिये हेरि तुलसी, लिखी, सो सुभाय सही करि,
बहुरि पूछिअहि पाँचो।

अपने सरल स्वभावसे इसपर 'सही' करके तब फिर पञ्चोंसे पूछना। पञ्चोंसे या दरबारी मुसाहबों-से बेखटके पूछ सकते हो, उनकी राय भी इसपर ले सकते हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर, 'सही' उनसे बिना पूछे ही कर देना, भले ही यह बात क़ानूनके ख़िलाफ़ हो।

इस पदमें प्रयुक्त 'बाप' शब्द द्रष्टव्य है। गोसाइंजी पञ्चोंसे बिना पूछे ही 'सही' लिखवा लेना चाहते हैं और स्वयं पढ़नेको भी कहते हैं। इसीलिये यहाँ, 'प्रभु महाराज देव' आदि ऐश्वर्य-सूचक सम्बोधनोंका प्रयोग नहीं किया गया है। 'बाप' के सम्बोधनसे आप घरू तौरपर बात कर रहे हैं। बापसे किसी तरहका कोई संकोच तो होता नहीं। 'सही' करा लेनेतक तो 'पिता-पुत्र'का सम्बन्ध है, और इसके आगे 'राजा-प्रजा'अथवा 'स्वामी-सेवक' का भाव आ जाता है। अर्ज़ी पेश करनेका कैसा बढ़िया ढंग है! क्या अब भी राजाधिराज श्रीरामचन्द्र विनयी तुलसीकी विनय-पत्रिकापर 'सही' न करेंगे?

सेव्य-सेवक-भाव ही गोसाइंजीके मतसे,प्रेमका सर्वोत्कृष्ट रूप है। बिना इस भाव-साधनाके भव-सागरसे तर जाना कठिन ही नहीं, असम्भव है—

सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

उस जगन्नियन्ता स्वामीका सेवक हो जाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। पर लाखमें किसी एकको मिलती है उस मालिककी गुलामी। हम दुनियाँके कमीने गुलामोंको कहाँ नसीब है वह ऊँची गुलामी!

ज़रा, देखो तो, अपना कैसा सुन्दर परिचय दिया है इस राम-ग़ुलामने। कहता है—

मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको, न हौं काहूके कामको।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साह ही को गोत, गोत होत है ग़ुलामको।'
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

कैसी आज़ादीकी ग़ुलामी है यह राम-ग़ुलामी! स्वामी और सेवकमें यहाँ अन्तर ही क्या है? दोनोंका एक ही कुल है, एक ही गोत्र है। क्या अच्छा कहा है—

साह ही को गोत गोत होत है ग़ुलामको।

ऐसा कौन स्वातन्त्र्य-प्रिय होगा, जो यह दासत्व स्वीकार न करेगा। किस अभागेके हृदयतलमें यह अभिलाषा न उठती होगी, कि—

जेहि-जेहि जोनि करम-बस भ्रमहीं। तहँ-तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम, स्वामी सिय-नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

सेव्य-सेवकभाव हँसी-खेल नहीं है। यह महाभाव योग-साधनसे भी अधिक अगम्य है। इस नातेका एकरस निभा ले जाना कितना कठिन है, कितना कष्टकर है। अतः यह दास्य-रति केवल हरि-कृपा-साध्य है।

× × ×

गोसाईंजीकी दृष्टिमें अंगीकृत अनन्य दासकी कितनी ऊँची महिमा है, इसे नीचेके पद्यमें देखिये—

सो सुकृती, सुचिमन्त, सुसन्त, सुजान, सुसील, सिरोमनि स्वै।
सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत हैं ता तन छ्वै॥
गुन-गेह सनेहको भाजन सो, सब ही सों उठाइ कहौं भुज द्वै।
सति भाय सदा छल छाँड़ि सबै, तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै॥

भक्तकी यह महती महिमा सुनकर कौन ऐसा अभागा होगा, जो श्रीरघुनाथजीका अंगीकृत दास होनेके लिये लालायित न होता होगा? दास्य-रतिका अनिर्वचनीय आनन्द लूटनेके अर्थ कौन मूढ़, गोसाईं तुलसीदासके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर, भक्ति-पूर्वक यह पुनीत प्रार्थना न करना चाहेगा?

मो सम दीन, न दीन-हित, तुम समान रघुबीर।
अस बिचारि, रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर॥
कामिहि नारि पियारि-जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि, रघुनाथ, निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि, राम॥

कामना

कहत सकल मुनिगन याही भांति ईश!
तेरोऊ कथन ऐसो गीता-ग्रंथमें सुहाय;
धरम करम सब होत है वृथासे जोपै
अन्तके समय मति तोपै ना छनौ थिराय।
कविराजहंस हियरेके अधिनाथ! तासों
एक यही कामना रही है हियरेमें छाय;
जीवनकी सांझ पाय नैन जोति मेरी श्याम!
तेरी छवि देखि अन्धकारमें बिलाय जाय।

(बलदेवप्रसाद मिश्र एम०ए०, एल० एल०बी०, एम०आर०ए० एस०)

भगवान् सहायक हैं

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवद्भक्तिके पथपर चलनेवाले पुरुषोंको अपने मनमें खूब उत्साह रखना चाहिये। इस बातका सदा स्मरण रखना चाहिये कि समस्त विघ्नोंके नाश करनेवाले और साधनमें सतत सहायता पहुंचानेवाले भगवान् हमारे पीछे स्थित रहकर सदा हमारी रक्षा करते हैं। रणाङ्गणमें रण-प्रवृत्त योद्धाके मनमें इस स्मृतिसे महान् उत्साह बना रहता है कि मेरे पीछे विशाल सैन्य साथ लिये सेनापति स्थित है। भक्तको तो इससे भी अनन्तगुण अधिक उत्साह होना चाहिये। क्योंकि उसके पीछे अनन्त शक्ति-सम्पन्न भगवान्का बल है। शक्तिशाली सैन्यका सहारा पाकर जब निर्बल भी बलवान् बन जाता है, जब कायर भी शूरवीरका-सा काम कर दिखाता है। निर्बल निरुत्साही मनुष्य इस बातको भलीभांति समझता हुआ कि, मुझमें बड़ी भारी शत्रु-सेनाका सामना करनेकी शक्ति नहीं है, शत्रु-सेनाकी अपेक्षा अपनी सेनाको अधिक बलवती देखकर उसके भरोसे लड़नेको तैयार हो जाता है। फिर जिसपर भगवान् सहायक हों, उसको तो भीषण विषय-सैन्यको तुच्छ समझकर उसके नाशके लिये बद्ध-परिकर ही हो जाना चाहिये। परमात्मा श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंको आश्वासन देते हुए घोषणा करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९।२२)

'जो अनन्य भावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम-भावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्की इस घोषणापर विश्वास कर कठिन-से कठिन मार्गपर अग्रसर होनेमें भी संकोच नहीं करना चाहिये। शंख, चक्र, गदा आदि धारण करनेवाले भगवान्, जब हमारे प्राप्त साधनकी रक्षा और अप्राप्तकी प्राप्ति करानेका स्वयं जिम्मा ले रहे हैं, जब पद पदपर हमें बचानेके लिये तैयार हैं, तब इस घोर अन्धकारमय संसार-अरण्यसे बाहर निकलनेके लिये हमने जिस साधनामय पथका अवलम्बन किया है, उसमें विघ्न करनेवाले काम-क्रोधरूप सिंह-व्याघ्रादिसे भय करनेकी क्या आवश्यकता है? जब भगवान् सदा-सर्वदा हमारे साथ हैं तब भय किस बातका? जैसे छोटा बालक माताकी गोदमें आते ही अपनेको निर्भय और निश्चिन्त मानता है, इसी प्रकार हमें भी अपनेको परमपिता परमात्माकी गोदमें स्थित समझकर निर्भय और निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान् तो बल, प्रेम, सुहृदता आदिमें सभी प्रकार सबसे अधिक हैं। कारण ये सारे सद्गुण उन्हीं गुणसागरके तो गुण-कण हैं। अतएव सब तरहके शोक, भय आदिको त्यागकर, बड़े उत्साह और उमंगके साथ एक वीरकी भांति अपने अभीष्ट मार्गपर द्रुतगतिसे अग्रसर होना चाहिये। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार भक्तप्रवर अर्जुनने भगवान्की सहायतासे भीष्म, द्रोण, कर्णादिद्वारा सुरक्षित ग्यारह अक्षौहिणी कौरव-सेनाको विध्वंसकर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार उनकी सहायतासे हम भी काम, क्रोधादिरूप कौरव-सेनाका सहजहीमें विनाशकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वराज्यको प्राप्त कर सकते हैं। बस, भगवान्को अपना सच्चा अवलम्बन बनाकर भीमार्जुनकी भांति प्राण-विसर्जनतकका प्रणकर भगवदाज्ञानुसार कार्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण होनेभरकी देर है।

मलिन्द !

(१)

फूले फले कितने ही यहाँ, अब
कुञ्ज न कोकिल के वह गीत हैं।
हैं वे रसाल न बौरे बसन्तके,
सारी बहार चुकी अब बीत है।
हैं सुख साज यहाँ क्षणके सब,
चातुरी झूँठी प्रतीत औ प्रीत है।
मूढ़ मलिन्द ! क्यों मारी गई मति,
मालती ये, दिन चारकी मीत हैं॥

(२)

बावलेसे यहाँ फूले फिरो अलि !
प्रेम कहीं न प्रसूनसे जोड़ना।
अन्त कभी परितापकी तापमें,
होगा तुम्हें इनसे मुख मोड़ना।
क्यों नहीं ढूँढ़ते हो वह पङ्कज,
पा जिनको, पड़ता नहीं छोड़ना।
अन्त बसन्तका हो चुका है अब,
माली इसे बस चाहता तोड़ना॥

(३)

प्रेमके बन्धनमें जितना आलि !
हो बँधते लख रूप लुनाई।
होगा तुम्हें उतना ही वियोगमें,
मोहका बन्धन भी दुखदायी।
मोड़ चलो मुख, छोड़ इन्हें यहीं,
जोड़ चुके अब रैन है आई।
कञ्जके कोषमें मीत ! न तो फिर,
होगी उठानी महा कठिनाई॥

(४)

लालिमा ही अवशेष रही अब,
सौरभ है न यहाँ सुखदायी।
कुञ्जकी मञ्जु मनोहरता महँ,
छा चुकी है अब तो पियराई।
जा चुके हैं सब साथी सतर्क हो,
आरहा ग्रीष्म महा दुखदायी।
भृंग ! चलो तुम भी बिसराकर,
मालती माधवी की सुघराई॥

(५)

होगा प्रभात अवश्य दिवाकर,
भूतलका तम नाश करेगा।
शीतल मन्द समीर कभी फिर,
सौख्य-सुधा ढरकाता फिरेगा।
गा उठेंगे प्रिय गीत विहंगम,
कोकके भी मन मोद भरेगा।
होगे स्वतन्त्र, सुनो तुम भी अलि !
कञ्जका कोष कभी उघरेगा॥

—'श्रीपति'

प्रेमका भगवान्

एक बादशाह जंगलमें शिकार खेलने गया, वहां उसे एक साधु मिले। कुछ समय तक साधुका संग करनेपर बादशाहको बड़ी प्रसन्नता हुई, और उसने साधुको कुछ देना चाहा। साधुने कहा, 'नहीं, मैं अपनी स्थितिमें पूर्णरूपसे सन्तुष्ट हूं। खानेके लिये ये वृक्ष मुझे यथेष्ट फल दे देते हैं, ये रमणीय पवित्रसलिला नदियां मुझे आवश्यकतानुसार जल प्रदान करती हैं, और सोनेके लिये तो पहाड़ोंकी गुफाएं बनी ही हैं। तुम राजा हो या सम्राट्, मुझे तुमसे कुछ भी लेना नहीं है।' सम्राट्ने कहा, 'स्वामीजी! मुझे पवित्र करने और मेरा जीवन सफल करनेके लिये ही कुछ लीजिये और कृपापूर्वक एक बार मेरी राजधानीमें पदार्पण कीजिये।' बहुत दबानेपर साधुने सम्राट्के साथ उसके नगरमें जाना स्वीकार कर लिया। साधु बादशाहके महलमें पहुंचे, वहां चारों ओर हीरे-पन्ने मोती-माणिक आदि जवाहिरात और सोने, चाँदीके पदार्थ पड़े थे, और भी बहुतसी बहुमूल्य अद्भुत वस्तुएं थीं, सभी ओर ऐश्वर्य और वैभवके चिह्न दिखायी देते थे। वहां पहुंचनेपर सम्राट्ने साधुसे कहा, 'महाराज! आप तनिक विश्राम कीजिये, इतनेमें मैं प्रार्थना कर लेता हूं' यह कह बादशाह एक कोनेमें जाकर दीनवाणीसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगा,-'प्रभो! मुझे और भी अधिक ऐश्वर्य, और भी अधिक सन्तान तथा और भी राज्य प्रदान कीजिये।' इतना सुनते ही साधु उठकर जाने लगे। बादशाहने पीछेसे दौड़कर पूछा, 'महाराज! कहां जा रहे हैं, मेरी सेवा स्वीकार किये बिना ही कैसे लौट रहे हैं?' साधुने बादशाहकी ओर मुख फिराकर कहा, 'भिखारी! मैं तुझ भिखारीसे भीख नहीं माँगता, तू मुझे क्या दे सकता है, तू तो स्वयं ही भीख माँगता है?'

वास्तवमें सम्राट्की प्रार्थना प्रेमकी भाषामें नहीं थी। यदि भगवान्से ऐसी प्रार्थना की जा सकती हो तो फिर प्रेम और दुकानदारीमें भेद ही क्या रह गया? अतएव प्रेमका सर्वप्रथम यही लक्षण है कि, उसमें क्रय-विक्रय नहीं है-प्रेम तो सदा दिया ही करता है, वह कभी लेता नहीं;—प्रेम दाता है, गृहीता नहीं है। भगवान्का भक्त कहता है कि 'भगवान् चाहें तो मैं अपना सर्वस्व उसके अर्पण कर सकता हूं, परन्तु उससे मैं कुछ भी लेना नहीं चाहता। इस जगत्की कोई भी वस्तु मुझे नहीं चाहिये। उससे प्रेम किये बिना रहा नहीं जाता, इसीलिये प्रेम करता हूं; इस प्रेमके परिवर्तनमें उससे किसी प्रकारकी कृपा-भिक्षा नहीं चाहता। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है या नहीं, यह जाननेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं; कारण, मैं न तो उससे कोई शक्ति चाहता हूं और न उसकी किसी शक्तिका विकाश ही देखना चाहता हूं, वह मेरे प्रेमका भगवान् है। बस, इतना ही जान लेना मेरे लिये बहुत है। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ भी जानना नहीं चाहता।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रार्थना

(लेखक—श्रीवियोगी हरिजी)

हाँ, वही आग, मेरे प्राणोंके स्वामी, वही आग। मेरे अव्यक्त अन्तस्तलमें अपने अमंद अनुरागकी एक धधकती हुई अँगीठी रख दो न। जला दो, नाथ, उसमें मेरी सारी गीली वासनाएँ। भस्म कर दो, प्रभो, उसमें मेरी असीम अहन्ता। भून डालो उसमें मेरे समस्त कर्म-अकर्म।

मेरा हृदय अब अंगारकी तरह दहकने दो। आजसे वहाँ लगनकी लपटें उठने दो। ख़ाक हो जाने दो, नाथ, मेरी मदिरामयी मोह-ममता उस अनोखी अनुराग-आगमें।

अपने परम-प्रेमका दीपक जला दो, ज्योतिर्मय! वही दीप-प्रकाश भर दो, लीलामय, मेरी अँधेरी मानस-कुटीमें। और, उस लौसे लिपट लेने दो एक बार मेरे प्राण-पतंगेको, प्राणेश!

आज ही साँझको मेरी यह अधीरता-भरी साध पूरी कर दो, मेरे जीवितेश्वर!

× × × ×

मेरे लिये तो जहाँ तुम हो, वहीं काशी है, वहीं द्वारका है। वहीं मक्का है और वहीं जेरूसलेम है। मुझे ऐसे ही तरण-तारण तीर्थोंमें ले चलो, मेरे नाथ!

जहाँ भी तुम्हारे प्रेम-रसकी विमल धारा बहती हो, वहीं गङ्गा है, वहीं जमुना है और वहीं आबे ज़मज़म है। मुझे ऐसी ही सरस सरिताओंकी लहरोंपर धीरे-धीरे झुलाते रहो, मेरे हृदय-रमण!

जहाँ कहीं भी तुम्हारी प्यारी झलक देखनेको मिलती हो, मेरी नज़रमें, वहीं मंदिर है, वहीं मसजिद है और वहीं गिरजा है। मेरा आसन किसी ऐसे ही उपासना-स्थलमें जमा दो, मेरे स्वामी!

× × × ×

तुम राम हो तो क्या अल्लाह नहीं हो? तुम अहुर मज़्द हो तो क्या यहोवा नहीं हो? तुम अर्हन् हो तो क्या बुद्ध नहीं हो? प्रभो, तुम क्या नहीं हो। ये सब तुम्हारे ही नाम तो हैं, तुम्हारी ही प्यारी-प्यारी सूरतें तो हैं।

काशी तुम्हारी है तो क्या मक्का किसी औरका है? बौद्ध-गया तुम्हारी है तो क्या जेरूसलेम किसी दूसरेका है? प्यारे, तुम कहाँ नहीं हो। ये सब तुम्हारे ही मकान तो हैं, तुम्हारे ही खेलनेके अनोखे आँगन तो हैं।

संस्कृत तुम्हारी है तो क्या ज़िन्द किसी और की है? अरबी तुम्हारी है तो क्या लैटिन किसी दूसरेकी है? नाथ, ये सब तुम्हारी ही भोली भाषाएँ तो हैं, तुम्हारी ही प्यारी रस-भरी तोतली बोलियाँ तो हैं।

× × × ×

न्याय कराने आया हूँ, नाथ, न्याय। लोग मुझे तुम्हारा अपराधी कहते हैं। मुझे क्या मालूम, कि मैं तुम्हारा अपराधी हूँ या नहीं! मुझपर एक भारी अभियोग लगाया जा रहा है। वह यह, कि मैंने तुम्हारी प्यारी सूरतकी एक तसबीर खींचकर कहीं छुपा रखी है—यह जानते हुए भी, कि तुम निराकार हो, अमूर्त्त हो; अतः तुम्हारा चित्र खींचना उनकी रायमें ग़ैरक़ानूनी है।

यदि तुम्हारे 'इजलास ख़ास' में मेरी यह ढिठाई अपराधोंमें गिनी जाती है, तो मैंने यह अपराध अवश्य किया है। मैं इसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ, और इसके लिये मैं कठोर-से-कठोर दण्ड भोगनेको तैयार हूँ। पर एक विनय है, न्यायाधीश! जिस कारागारमें मैं बंद किया जाऊँ, वहाँकी दीवारपर मुझे अपनी खींची हुई उस प्यारी तसबीरके टाँगनेका अधिकार अवश्य दिया जाय। मेरी यह विनम्र प्रार्थना स्वीकार की जाय, प्रभो!

× × × ×

श्रीभगवन्नाम-जप

विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

जो मेरे नामका गान करता हुआ मेरे ही समीप विचरता है, मैं उसके द्वारा खरीदा जाता हूँ यह सत्य है।—भगवान् श्रीकृष्ण

जो लोग जन्म-मरणके झगड़ोंसे छूटना चाहें वे जगत्के कारणभूत परमात्माकी स्तुति करें, जो इसमें भी असमर्थ हैं वे भगवन्नामका उच्चारणमात्र ही करें, उनको भी वही फल मिलेगा। —वेद

नारायणका नाम और स्वाधीन वाणीके रहते हुए भी लोग (नाम न जपकर) नरकमें पड़ते हैं, यही बड़े आश्चर्यकी बात है। —भगवान् व्यास

किसी संकेतसे, परिहाससे, जानकर या अवज्ञासे भी जो भगवान्के नामका कीर्तन करता है वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। —यमराज

इन दोषोंसे भरे हुए कलियुगमें एक महान् गुण यह है कि केवल श्रीकृष्णके नामकीर्तनसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है। —श्रीशुकदेव

हे भगवन्! आपने अपने अनेक नाम (जीवोंके कल्याणार्थ) प्रकाशित किये और उनमें अपनी पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी। नाम-स्मरणमें काल, अवस्था, अधिकार आदिका कोई नियम नहीं रक्खा, आपकी तो ऐसी कृपा और मेरा ऐसा दुर्भाग्य कि नाममें मेरा प्रेम नहीं हुआ। —श्रीचैतन्यदेव

अरे मूढ़ो! गोविन्दका भजन करो। —स्वामी शंकराचार्य

जो श्रीराम-नामका अवलम्ब छोड़कर परमार्थकी आशा करता है वह मानों बरसते हुए पानीकी बूँद पकड़कर आकाशपर चढ़ना चाहता है। मेरे तो राम-नामके दो अक्षर ही माँ-बाप हैं। झूठ कहता हूँ तो शिवजी साक्षी हैं, मेरी जीभ गलकर गिर पड़े। —तुलसीदास

अनन्त जन्मोंके पुण्य-बलसे जीभपर श्रीरामनाम आता है, जिस कुलमें श्रीराम-नामका उच्चारण होता है वह कुल धन्य है। राम-नाम कहते ही अनेक जन्मोंके दोष नष्ट हो जाते हैं। आधी घड़ीके लिये भी श्रीराम-नामको नहीं विसारना चाहिये। —ज्ञानेश्वरजी

जो सब धर्मोंको छोड़कर केवल श्रीराम-नामका जप करता है, रक्षक प्रभु उनकी सभी स्थानोंमें सदा रक्षा करते हैं। —समर्थ रामदासजी

श्रीहरिका नाम लेनेसे दुःख समीप भी नहीं आता, जो श्रीकृष्णका भजन करता है वह सभी सुखोंको प्राप्त करता है। —सूरदास

भगवन्नामका जप करनेवाला कोढ़ी अच्छा है, कञ्चन काया किस कामकी जिसके मुखमें हरिका नाम नहीं। —कबीरजी

श्रीहरिके नामसे भयका नाश होता है, वह दुष्ट बुद्धिको हर लेता है, जो रात-दिन नामका भजन करते हैं, उनके सभी काम सफल होते हैं। —नानक

नामको कभी हृदयसे नहीं भूलना चाहिये, यही सहज मार्ग है। —दादूजी

सबमें शिरोमणि भगवान्का नाम है, उस सुख-सागरका रातदिन स्मरण करना चाहिये। —सुन्दरदासजी

जो राम-नामका उच्चारण करता हुआ चलता है, उसको पग-पगपर यज्ञका फल प्राप्त होता है। —तुकारामजी

'कल्याण' को विशेषकर 'भगवन्नामांक' * को ध्यानसे पढ़नेवाले पाठक और पाठिकाओंको श्रीभगवन्नामका महत्त्व समझाना नहीं होगा। जिन लोगोंने भगवन्नामका आश्रय लेकर अलौकिक लाभ उठाये हैं, उनका तो हृदय ही जानता है। कलिसन्तरण उपनिषद् और सन्त तथा साधकों-के अनुभवके अनुसार उपर्युक्त १६ नामोंका मन्त्र बहुत ही उपादेय है। गत वर्ष कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी १५ तक सोलह नामोंके उपर्युक्त मन्त्रके दस करोड़ जप करने करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी, परन्तु आनन्दका विषय है कि पाठकों, सन्त-महात्माओं और भगवत्-प्रेमियोंके प्रयत्नसे पचास करोड़ मन्त्रोंका जप हो गया, जिन भाग्यवान् नर-नारियों-ने जपमें भाग लिया उनमें अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, वकील-डाक्टर, मालिक-नौकर सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुष थे।

गत तीन वर्षोंसे श्रीहरिके प्रेमी सज्जन और देवियां नाम-जप-यज्ञमें सम्मिलित होनेका पुण्य लूट रहे हैं। गत वर्षकी भांति अबकी बार भी अभी दस करोड़ मन्त्रजपके लिये ही विनीत प्रार्थना की जाती है। आशा है, कल्याण-प्रेमी भाग्यवान् नर-नारी इस सत्कार्यमें योग देकर हमपर उपकार करेंगे। नियम पूर्ववत् ही हैं।

यह कोई नियम नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल बिछौनेसे उठनेके समयसे लेकर रातको सोने-तक चलते, फिरते, उठते, बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गणना की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी अनिवार्य कारणवश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे कहकर जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा प्रबन्ध न हो सके तो निम्नलिखित पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें उतने जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। एक बात याद रखनी चाहिये कि पैसा या वृत्ति देकर किसी दूसरेसे जप नहीं करवाना चाहिये। जो करे सो स्वयं आप ही करे। किसी अनिवार्य कारणवश जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहां सूचना भी न भेजी जा सके तो कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे भगवान्के नामका जप जितना भी किया जाय उतना ही उत्तम है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि कल्याणके प्रेमी पाठक और पाठिकाएं अपने अपने यहां इस बातकी पूरी पूरी चेष्टा करें तो आगामी अंक प्रकाशित होनेतक हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको कृपापूर्वक इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१–किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी-बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३–प्रतिदिन कमसे कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४–सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५–संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये। नामकी

* सचित्र भगवन्नामांक कल्याण-कार्यालयमें ।||=) में मिल सकता है।

नहीं। एक मन्त्रमें सोलह नाम हैं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्रजपकी संख्या १०८ होती है; जिसमेंसे भूल चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करें उस दिनसे फाल्गुन सुदी १५ तकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६-संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बङ्गला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।*

७-सूचना भेजनेका पता-

'नामजप-विभाग'
कल्याणकार्यालय, गोरखपुर

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकाश होता है। उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजहीमें हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा सन्त-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परमसुख मिलेगा, यह शंका सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएं केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है परन्तु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध[1] होनेपर भी प्रकार-भेदसे अनेकरूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेक-पूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्-परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके

* यदि आगामी अंकोंके प्रकाशित होनेतक पूरी सूचना न मिली और आवश्यक समझा गया तो पूर्तिके समयकी अवधि आगेके लिये भी बढ़ाई जा सकती है।

१ अनेकप्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले मुसाफिरकी भांति मैं भी धन्य हो जाऊंगा। इस प्रकारकी मूढ़-मतिवालोंकी बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेसे भगवान्की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते।' इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवाह न कर उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन-धर्म-कर्म सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामें, उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने आपको प्रिय-मिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी, कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किञ्चित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-बंशरी नन्दकिशोर॥

—भूपेन्द्रनाथ संन्याल

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता; अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएं उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उसके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका सञ्चार होता है, वह सारे बन्धनोंको ज़ोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी!' घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर शीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिशोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है॥
अब विलम्ब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहवरकी विचरूँ साँझ सवेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगुल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो।
'ललितकिशोरी' तन मन आकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

—ललितकिशोरी

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्दकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ।
बंशीवट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ॥
रिझऊँ श्याम मनाइ, गाइ गुन, गुञ्ज-माल गल डारूँ।
परमानन्द भूलि सगरौ, जग श्याम हि श्याम पुकारूँ॥

—अकिञ्चन

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है!
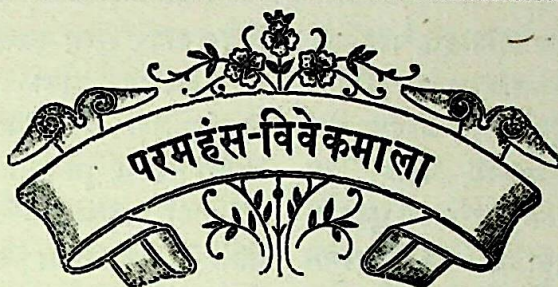
(लेखक—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि ८]

विषयजन्यसुखमें दुःखरूपता

विषयसे उत्पन्न हुआ फल सुखरूप है अथवा फलका साधनरूप विषय ही सुखरूप है ? इनमेंसे प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि विषयसे उत्पन्न हुआ फल तीन कालमें भी सुखरूप नहीं है, वह तो दुःखरूप ही है।

प्रजाः—हे भगवन् ! यदि विषयजन्य फल सुखरूप न हो तो, विषयसे मुझे सुख उत्पन्न हुआ है, यह कथन असङ्गत होगा। परन्तु सब लोग ऐसा कहते हैं कि विषयजन्य फल सुखरूप है।

सनकादिः—हे प्रजा ! विषयसे सुखरूप फल उत्पन्न नहीं होता, उससे दुःखरूप फल उत्पन्न होता है। पूर्वके भ्रमजन्य संस्कारोंसे पुरुषको दुःखमें ही सुख-बुद्धि होती है। यह दुःखमें सुख-बुद्धि भ्रमरूप है क्योंकि अन्य वस्तुमें अन्य बुद्धिका नाम भ्रान्ति है इसलिये विषयजन्य फल सुखरूप नहीं है। अब 'विषय ही सुखरूप है,' इस दूसरे पक्षके खण्डन करनेके लिये प्रथम स्त्रीरूप विषयमें सुखरूपताका खण्डन किया जाता है, इसका खण्डन होनेसे सब विषयोंमें सुखरूपताका खण्डन हो जाता है। जैसे सब मल्लोंमें जो प्रधान मल्ल होता है, उसको जीतनेसे सबपर विजय हो जाती है, इसी प्रकार सर्व लोगोंके सर्व विषयोंसे अधिक माने हुए स्त्री-रूप विषयमें जब सुखरूपताका खण्डन हो गया, तब सर्व विषयोंमें सुखरूपताका खण्डन सिद्ध हो जाता है। इसलिये प्रथम स्त्रीरूप विषयमें ही सुखरूपताका अभाव कहना चाहिये। जब मरे हुए मेंढकका उदर फूलकर फट जाता है तब वह अधिक दुर्गन्धवाला, अधिक मांसवाला, रुधिर, विष्ठा तथा मूत्रसे युक्त, कोमल स्पर्शवाला तथा स्निग्ध हो जाता है। विचारकर देखनेसे स्त्रीकी योनि भी उसीके समान है। यद्यपि दोनों समान हैं तो भी कामीपुरुषको दुर्गन्धवाले मेंढकके चमड़ेसे स्त्रीकी योनिमें सुन्दरता प्रतीत होती है। यह केवल भ्रान्तिके कारण ही प्रतीत होती है। रोमसे रहित पुरुषके मुखमें तथा स्त्रीके मुखमें विचारकर देखनेसे कुछ भी भेद नहीं है तो भी अविवेकी कामीपुरुषको जो भेद प्रतीत होता है वह केवल भ्रान्तिसे होता है। नपुंसकमें तथा स्त्रीमें कुछ भी भेद नहीं है तो भी भ्रान्तिसे अविवेकी पुरुषको भेद प्रतीत होता है। इसी प्रकार पुरुषके शरीरमें तथा स्त्रीके शरीरमें विचारकर देखनेसे कुछ भी भेद नहीं है।

प्रजाः—हे भगवन्! पुरुषके तथा स्त्रीके शरीरमें लोगोंको भेद अवश्य प्रतीत होता है, इसलिये दोनोंके शरीरोंमें अभेद कहना अत्यन्त विरुद्ध है।

सनकादिः—हे प्रजा ! पुरुष तथा स्त्रीके शरीरमें तत्त्वोंके भेदसे भेद है अथवा आत्माके भेदसे भेद है? तत्त्वोंके भेदसे भेद है, यह प्रथम पक्ष नहीं बनता,

क्योंकि पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच भूत, पांच प्राण तथा चार अन्तःकरण इन चौबीस तत्त्वोंका समुदाय ही स्त्री-पुरुषादि प्राणीमात्रका शरीर है । इस सम्बन्धमें पहले कह आये हैं। इसलिये तत्त्वोंके भेदसे स्त्री-पुरुषादि शरीरोंमें भेद सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा-के भेदसे भेद है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि स्त्री-पुरुषादि सर्व प्राणीमात्रके हृदयमें सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा स्थित है। अहं ज्ञानका विषय तथा अहं शब्दका लक्ष्य यह आत्मा सर्वत्र व्यापक तथा आधारसे रहित है। इस प्रकार स्त्री-शरीरमें तथा पुरुष-शरीरमें चौबीस तत्त्वोंकी तथा आत्माकी समानता है तो भी कामरूप पिशाचके वश हुए पुरुष और स्त्री, "यह स्त्री है, और यह पुरुष है" इस प्रकारके भेदकी कल्पना करते हैं। इस कल्पनासे ही स्त्री पुरुष पशु-धर्ममें प्रवृत्त होते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुषोंका कामशास्त्रमें अत्यन्त हास्य किया गया है। सभ्यतासे विरुद्ध होनेके कारण उसका यहाँ वर्णन नहीं किया जाता। उपहास करनेसे कामशास्त्रका तात्पर्य भी विपरीत आचरणसे निवृत्त करनेमें ही है, प्रवृत्तमें नहीं है।

प्रजाः-हे भगवन् ! पशुधर्मसे यद्यपि सुखकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, तो भी कामकी शान्तिरूप दुःखकी निवृत्तिरूप पुरुषार्थता तो सिद्ध होती ही है।

सनकादिः-हे प्रजा ! मैथुन-कर्मसे दुःखकी निवृत्ति भी नहीं होती, उससे तो उलटे क्लेशकी प्राप्ति होती है। जैसे पिशाचादि ग्रहसे युक्त पुरुष ग्रहके दबावसे विपरीत चित्तवाला होकर सम्मुख अथवा विमुख होकर अपने शरीरको ताड़न करता है और उससे अति क्लेशको प्राप्त होकर, पिशाचादि ग्रहसे नहीं छूटकर भी वह सुखी पुरुषके समान पूर्व व्यापारसे रहित होकर स्थित होता है, इसी प्रकार कामरूप ग्रहसे नहीं छूटे हुए कामी स्त्री-पुरुष पूर्व व्यापारसे निवृत्त होकर सुखी हुएसे प्रतीत होते हैं, इसलिये मैथुन-कर्मसे कामकी निवृत्तिरूप दुःखकी भी निवृत्ति नहीं होती। जैसे घृत-काष्ठादिसे अग्निकी शान्ति नहीं प्रत्युत वृद्धि होती है इसी प्रकार मैथुन-कर्मसे भी कामकी निवृत्ति नहीं, किन्तु उलटी वृद्धि होती है। प्रथम जिस वस्तुमें पुरुषकी इच्छा होती है, उसकी पीछे उस वस्तुमें प्रवृत्ति होती है। इसलिये इच्छा कारणरूप है और प्रवृत्ति कार्यरूप है। कारण बिना कार्य होता नहीं, यह नियम है, इसलिये कार्यसे कारणका अनुमान होता है। जैसे नदीके जलकी वृद्धिसे वर्षाका अनुमान होता है। यदि स्त्री तथा पुरुषके कामकी निवृत्ति हो जाय तो फिर उनकी मैथुन-कर्ममें प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रतिदिन उनकी प्रवृत्ति होती है, ऐसा देखनेमें आता है, इससे यहाँ सिद्ध होता है कि मैथुन-कर्मसे कामकी निवृत्ति नहीं होती।

प्रजाः-हे भगवन् ! जैसे मैथुन-कर्ममें प्रवृत्तिरूप हेतुसे स्त्री तथा पुरुषके कामका अनुमान होता है ऐसे ही मैथुन-कर्मसे निवृत्तिरूप हेतुसे कामके अभावका भी अनुमान हो सकता है।

सनकादिः-निवृत्तिरूप हेतुसे कामका अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि कामके अभाव बिना निवृत्ति न होती हो तो निवृत्तिरूप हेतुसे कामके अभावका अनुमान हो, परन्तु निवृत्ति कामके अभाव बिना नहीं होती। इसलिये निवृत्तिरूप व्यभिचार-हेतुसे कामके अभावकी सिद्धि नहीं होती, यानी मैथुन-कर्मसे स्त्री-पुरुषकी जो निवृत्ति होती है, वह सुखरूप फलकी प्राप्तिसे नहीं होती, क्योंकि फलकी प्राप्ति होनेपर फिर साधनकी इच्छा नहीं होती। यहां पुनः साधनकी इच्छा देखनेमें आती है इसलिये सुखरूप फलकी प्राप्तिसे निवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार कामके अभावसे भी निवृत्ति नहीं होती, जबतक स्त्री-पुरुषके शरीरमें श्रम उत्पन्न नहीं होता तबतक मैथुन-कर्ममें परस्पर प्रवृत्ति होती है।

जब वे श्रमयुक्त हो जाते हैं तब उससे निवृत्त होते हैं। इसलिये केवल श्रमसे निवृत्ति होती है, सुखकी प्राप्ति अथवा कामके अभावसे वह निवृत्ति नहीं होती, इसलिये निवृत्तिरूप हेतुसे कामका अभाव सिद्ध नहीं होता। वीर्यका निकलना किञ्चित् भी सुखरूप नहीं है वह तो उल्टा दुःखरूप है, तो भी मोह-ग्रस्त मनुष्य भ्रान्तिसे दुःखको सुखरूप मानते हैं। भ्रान्तिसे सिद्ध इस सुखसे अधिक सुख विष्ठा-मूत्रके परित्यागमें होता है, क्योंकि वीर्यके परित्यागसे पुरुषको पश्चात्ताप होता है और उसके बलकी हानि होती है, परन्तु विष्ठा-मूत्रके परित्यागके बाद कोई पश्चात्ताप नहीं होता उल्टी प्रसन्नता होती है। जैसे समीप ही यदि किसी वृक्षमें मधु मिलता हो तो मधुके लिये पर्वतपर जाना व्यर्थ है इसी प्रकार जब वीर्यके परित्यागरूप सुखसे विष्ठा-मूत्रके परित्याग-जन्य अधिक सुख नित्य प्राप्त है तो वीर्य परित्यागजन्य सुखकी प्राप्तिके लिये यत्न करना व्यर्थ है।

प्रजाः—भगवन्! जैसा सुख समागममें होता है वैसा सुख विष्ठा-मूत्रके परित्यागमें नहीं होता।

सनकादिः— वीर्यके परित्यागमें जैसे तुम 'रत' शब्दकी अर्थता मानते हो, वैसे ही विष्ठा-मूत्रके परित्यागमें 'रत' शब्दकी अर्थता क्यों नहीं मानते? किस दूषणके भयसे नहीं मानते? उसमें भी माननी चाहिये, क्योंकि सुखका अनुकूल व्यापारत्व, 'रत' शब्दकी प्रवृत्तिनिमित्त वीर्य-परित्यागमें तथा विष्ठा-मूत्रके परित्यागमें समान ही है। शब्द-सहित अपान-वायुके परित्यागमें जो सुख होता है, वह सुख देवाङ्गनाके संयोगमें भी नहीं होता, तो जैसे भ्रान्त पुरुष देवाङ्गनाजन्य सुखकी प्राप्तिके लिये यज्ञादि कर्म करता है वैसे ही अपान-वायु-जन्य सुखकी प्राप्तिके लिये भी यज्ञादि कर्म करने चाहिये। तृणादि तुच्छ वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये जो पुरुष चिन्तामणिका परित्याग कर देता है, उस बुद्धिहीन मनुष्यको चिन्तामणि शाप देती है। इसी प्रकार अपान-वायुके निर्गमन-जन्य सुखसे भी अतिनिकृष्ट जो देवाङ्गना-जन्य सुख है, उस तुच्छ सुखकी प्राप्तिके लिये चित्त-शुद्धिद्वारा मोक्षके साधनरूप यज्ञादि कर्म जो पुरुष करता है, उस अल्पबुद्धि पुरुषको यज्ञादि कर्म भी शाप देते हैं। जो मनुष्य विषयजन्य सुखको सुख मानता है, उससे पूछना चाहिये कि स्त्रीका शरीर, पुरुषका शरीर, दोनोंके शरीरका सम्बन्ध, प्रजाकी उत्पत्ति अथवा समान जातिवाली प्रजाकी उत्पत्ति, इनमेंसे कौनसी वस्तु सुखका कारण है? इनमेंसे स्त्रीका शरीर तथा पुरुषका शरीर सुखका कारण है, यह प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि यदि शरीरमें सुख उत्पन्न होता हो तो सुखकी प्राप्तिके लिये स्त्री पुरुष एक दूसरेके पास गमन न करें, क्योंकि सुखके साधनरूप दोनोंके शरीर विद्यमान हैं इसलिये स्त्री तथा पुरुषके शरीरमें सुख नहीं है। स्त्री-पुरुषका संयोग सुखका कारणरूप है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि यदि स्त्री-पुरुषका संयोग ही सुखका कारण हो तो मैथुन-कर्मके बाद भी संयोगसे सुख होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। उस समय उल्टा पश्चात्ताप होता है। इसीलिये महात्मा पुरुषोंने कहा है:—

भोजनान्ते स्मशानान्ते मैथुनान्ते च या मतिः।
सा मतिः सर्वदा चेत्स्यान्नरो नारायणो भवेत्॥

भोजनके अन्तमें, स्मशानमें तथा मैथुनके अन्तमें पुरुषकी जैसी बुद्धि होती है, वैसी ही बुद्धि यदि सर्वदा बनी रहे तो पुरुष साक्षात् परमेश्वर रूप हो जाय। परन्तु ऐसी बुद्धि सर्वदा नहीं रहती, इसलिये स्त्री-पुरुषका संयोग भी सुखका कारण नहीं है। और प्रजाकी उत्पत्ति सुखका कारणरूप है, यह तीसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि यदि प्रजाकी उत्पत्ति सुखका कारण

हो तो जूं आदि प्रजाकी उत्पत्तिसे भी सुख होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता, उनसे उल्टा दुःख होता है इस लिये प्रजाकी उत्पत्ति भी सुखका कारण नहीं है और सजातीय प्रजाकी उत्पत्ति सुखका कारण है, यह चौथा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि लोकमें पुत्रादिरूप प्रजावाले पुरुष भी पुत्रादिसे दुखी देखनेमें आते हैं। यह सभी जानते हैं कि प्रतिकूल पुत्रादि माता-पिताके दुःखका कारण होते हैं।

रसादि विषयमें सुखका अभावः—जैसे स्त्रीरूप विषय सुखका कारण नहीं है इसी प्रकार अन्न तथा जल भी सुखके कारण नहीं हैं क्योंकि भोजन किया हुआ अन्न तथा पान किया हुआ जल उत्तरकालमें पुरुषको दुःखका कारणरूप प्रतीत होता है यानी भोजनसे तृप्त हुए पुरुषको यदि कोई अन्न देता है तब वह मुख बनाकर 'नहीं' कहता है, इससे सिद्ध होता है कि पुरुषको अन्नमें द्वेष है और जो द्वेषका विषय होता है, वह दुःखका साधनरूप होता है, जैसे कि सिंह सर्पादि हैं। इसलिये अन्न आदि सुखके कारण नहीं हैं।

प्रजाः—हे भगवन्! यदि अन्न तथा जल सुखके कारण न हों तो सुखकी प्राप्तिके लिये अन्न-जलमें लोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये पर सब लोगोंकी प्रवृत्ति अन्न-जलमें देखनेमें आती है इसलिये अन्न तथा जल सुखके कारणरूप हैं।

सनकादिः—हे प्रजा! अन्न तथा जल सुखके कारणरूप नहीं हैं। अन्न-जलसे कुछ कालके लिये क्षुधा-तृषाकी शान्ति हो जाती है। जैसे प्रज्वलित अग्निमें डाली हुई लकड़ी क्षणमात्र अग्निकी ज्वालाको निवारण कर देती है तथा जलसे भीगी हुई भूमिको जब वायु सुखा देता है, तब जलका सिंचन क्षणमात्र पृथ्वीकी रूक्षताको निवारण कर देता है, इसी प्रकार शरीरके अन्दर स्थित अग्नि तथा प्राण भी अप्रतिबद्ध होकर प्राणीकी क्षुधा-तृषाको उत्पन्न करते हैं। उनमेंसे प्राण क्षुधाको और अग्नि तृषाको उत्पन्न करता है। पुरुषके शरीरके भीतर डाला हुआ अन्न तथा जल कुछ समयके लिये क्षुधा तथा तृषाको शान्त कर देता है यानी अन्न-जलके डालनेसे प्राणाग्निका निरोध हो जाता है। इस निरोधसे क्षणमात्र क्षुधा-तृषाकी शान्ति हो जाती है। क्षुधा-तृषाकी सहनरूप शान्तिमें ही अल्प-बुद्धि भ्रान्त पुरुष सुख मानते हैं। इसलिये रसनेन्द्रियके विषयरूप अन्नादि सुखके कारण नहीं हैं। इस प्रकार शब्दादि विषयकी प्राप्तिसे पुरुषको सुख उत्पन्न नहीं होता, क्षणमात्र इच्छाकी निवृत्ति हो जाती है। शब्दादि विषयकी इच्छासे प्रथम चित्त चञ्चल रहता है। जब शब्दादि विषय प्राप्त होते हैं तब क्षणमात्र चित्तकी चञ्चलताकी निवृत्ति हो जाती है। इस चञ्चलताकी निवृत्तिरूप चित्तकी अवस्थाको ही मूढ़ पुरुष सुखरूप मानते हैं। ज्ञानी पुरुष ऐसा जानते हैं कि चित्त पञ्चभूतोंके सत्त्वगुणका कार्य होनेसे निर्मल है, तो भी शब्दादि विषयकी इच्छासे चलायमान हुआ चित्त आत्मारूप आत्माके प्रतिबिम्बको ग्रहण नहीं करता और जब शब्दादि विषयकी प्राप्ति होती है तब कुछ समयतक इच्छाकी निवृत्ति हो जानेसे चित्त स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्तमें आनन्दस्वरूप परमात्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिस आनन्दस्वरूप आत्माके प्रतिबिम्बसे दुःखरूप चित्त भी सुखके समान प्रतीत होता है, वह बिम्बरूप आत्मा ही मुख्य सुखस्वरूप है। इस अभिप्रायसे ही शास्त्रमें विषय-प्राप्ति-कालमें भी ज्ञानीको नित्य सुखका अनुभव कहा है और अज्ञानीको क्षणिक सुखका अनुभव होता है, इसलिये शब्दादि विषयमें किञ्चित् भी सुख नहीं होता, दुःखरूप अन्तःकरणके परिणाममें ही भ्रान्त पुरुष सुख-बुद्धि कर लेते हैं। विषयजन्य अन्तःकरणके परिणामरूप फलमें उत्पत्ति, नाश तथा परिच्छिन्नतारूप दोष रहते हैं इसलिये बुद्धिमान्‌को उनमें सुख-बुद्धि नहीं होती, क्योंकि श्रुतिमें व्यापक आत्माको ही सुखरूप कहा है। व्याकरणकी रीतिसे

सुख-शब्दका अर्थ करें तो भी अन्तःकरणके परिणामकी सुखरूपता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जिससे इन्द्रियोंके गोलक प्रसन्न हों, वह सुख कहलाता है। विषयजन्य सुखका दोष विचार करनेसे हृदय-गोलक चिन्तासे तपायमान होता है इसलिये जितने विषयजन्य सुख हैं, वे सब दुःखरूप हैं। पूर्वोक्त युक्तिसे सुख किसी कारणसे उत्पन्न नहीं होता, सुख तो नित्य है। जो उत्पन्न होता है, वह सुखरूप नहीं होता। नित्य सुखस्वरूप सबका आत्मा है, आत्मा सत्, चित् तथा अद्वितीयस्वरूप है।

प्रजाः—हे भगवन्! सत्, चित् तथा आनन्द शब्दके भेदसे आत्माके स्वरूपमें भेद क्यों नहीं है?

सनकादिः—हे प्रजा! बुद्धिमान् पुरुषको सतादि शब्दोंके भेदसे सत्, चित् तथा आनन्दरूप अर्थमें भेद-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि शब्दोंका भेद होनेपर भी लोकमें अर्थकी एकता देखनेमें आती है, जैसे एक ही पुरुष-व्यक्तिमें पिता, पुत्र, पति, भ्राता इस प्रकारके भिन्न भिन्न शब्द पुत्र, पिता, स्त्री तथा भ्राताके क्रमसे कहे जाते हैं तो भी उन शब्दोंके भेदसे पुरुष-व्यक्तिका भेद नहीं होता, इसी प्रकार आत्माके लिये सत्, चित् तथा आनन्द ये भिन्न भिन्न शब्द शास्त्रमें कहे हैं। इन सतादि शब्दोंके भेदसे आत्मामें भेद नहीं होता। बन्ध्यापुत्र असत्य है, वैसे आत्मा असत्य नहीं है, किन्तु आत्मा असत्यसे विलक्षण है। इस विलक्षणतारूप निमित्तको ग्रहण करके सत्यादि शब्द आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। जैसे घटादि जड़पदार्थ अन्यसे प्रकाश्य हैं इस प्रकार आत्मा अन्यसे प्रकाश्य नहीं है इसलिये आत्मा जड़ नहीं है। घटादि जड़-पदार्थोंसे विलक्षणतारूप निमित्त ग्रहण करके आत्मामें चेतन-शब्द प्रवृत्त होता है। जो वस्तु प्रतिकूल होती है, वह सुख-शब्दका अर्थरूप नहीं होती, पर दुःख-शब्दका अर्थरूप होती है, जैसे कि सिंह-सर्पादि हैं। जो वस्तु अन्यका शेष होती है, वह भी सुख-शब्दका अर्थरूप नहीं, किन्तु दुःख-शब्दका अर्थरूप होती है, जैसे कि स्त्री धनादि हैं। ऐसा दुःखरूप आत्मा मैं नहीं हूं, मैं दुःखसे विलक्षण हूं। इस विलक्षणतारूप निमित्तको ग्रहण करके आनन्द शब्द आत्मामें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार आत्मा, एक, अद्वितीय, अस्थूल तथा अनणु आदि शब्द भेदरहित सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। आत्माके प्रतिपादक दो प्रकारके शब्द हैं, एक विधिमुख, दूसरे निषेधमुख। विधिमुख सत्यादि शब्द प्रथम आत्माका बोध कराके पीछे असत्यादिसे व्यावृत्तिका बोधन करते हैं। निषेधमुख अद्वितीय आदि शब्द प्रथम साक्षात् व्यावृत्तिका बोध कराके पीछे अर्थसे आत्माका बोधन करते हैं। व्यावृत्तिका अर्थ भेद है। इस प्रकार सत्यादि शब्दोंका भेद होनेपर भी उनके अर्थमें भेद नहीं है, सत्यादि सर्व शब्द एक ही आत्माका बोधन करते हैं।

सत्यादि शब्दोंके अर्थका अभेदः—सुखसे प्रकाश भिन्न नहीं है, क्योंकि यदि सुखसे प्रकाश भिन्न हो तो दुःख तथा दुःखके साधन सर्पादिके समान प्रकाश भी प्रतिकूल होवे अथवा सुखके साधनरूप स्त्री तथा धनादिके समान अन्य भोक्ताका शेषभूत होवे। परन्तु प्रकाश अनुकूलतम होनेसे प्रतिकूल तथा अन्यका शेषभूत नहीं है, इसलिये प्रकाश सुखसे भिन्न नहीं है। सुखके साधनरूप स्रक्-चन्दनादि विषय अनुकूल कहलाते हैं, तथा उन विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्ति अनुकूलतर कहलाती है और विषय, वृत्ति तथा अन्तःकरण इन तीनोंका प्रकाशक आत्मा अनुकूलतम कहलाता है, इसलिये प्रतिकूलता तथा अन्यशेषता दोनों प्रकाशमें नहीं बनते?

प्रजाः—हे भगवन्! प्रकाश तथा सुखका भेद न सही परन्तु इन दोनों धर्मोंसे आत्मरूप धर्मी भिन्न क्यों नहीं है?

सनकादिः—हे प्रजा! यह आत्मा प्रकाशरूपसे भिन्न नहीं है, क्योंकि आत्मा अन्तःकरणकी सब वृत्तियोंका प्रकाशक है। जो प्रकाशसे भिन्न होता

है, वह सर्व वृत्तियोंका प्रकाश नहीं करता। जैसे कि बुद्धि आदि। यदि आत्मा प्रकाशसे भिन्न हो तो अप्रकाशरूप होवे और अप्रकाशरूप होनेसे वह घटादिके समान अनात्मरूप होगा। पर आत्माकी अनात्मता कोई भी नहीं मानता इसलिये आत्मा प्रकाशसे भिन्न नहीं है, प्रकाशरूप ही है। जैसे सुखसे प्रकाश भिन्न नहीं है, ऐसे ही प्रकाशसे सुख भी भिन्न नहीं है, क्योंकि यदि सुख प्रकाशसे भिन्न हो तो अप्रकाशरूप हो और अप्रकाशरूपको कभी सुख-रूपता नहीं बनती।

प्रजाः—हे भगवन्! जैसे दीपकसे घटादिका प्रकाश होता है। घटादि भिन्न हैं, दीपक भिन्न है, इसी प्रकार सुखसे भिन्न प्रकाशसे सुखका प्रकाश बनता है इसलिये सुख और प्रकाशका अभेद मानना निष्फल है।

सनकादिः—हे प्रजा! जैसे रज्जु आदि व्यावहारिक पदार्थ तथा सर्पादि कल्पित पदार्थ अपनेसे भिन्न अन्य प्रकाशसे प्रकाशमान होते हैं, वैसे अपनेसे भिन्न अन्य प्रकाशसे सुख प्रकाशमान नहीं होता। सुख तो अपनेसे अभिन्न प्रकाशसे ही प्रकाशमान होता है। इसलिये सुखसे प्रकाशका अभेद है, तात्पर्य यह है कि रज्जु आदि अचेतन पदार्थ चेतनमें कल्पित हैं, इसलिये भिन्न प्रकाशसे उनकी प्रकाशमानता सम्भव है परन्तु आत्मा कल्पित नहीं है, वह सर्वका अधिष्ठान है, इसलिये उसकी प्रकाशमानता भिन्न प्रकाशसे नहीं बनती। जैसे प्रकाशसे आत्मा भिन्न नहीं है, इसी प्रकार सुखसे भी आत्मा भिन्न नहीं है, वह अभिन्नरूप है। प्रकाशस्वरूप आत्मा यदि सुखसे भिन्न हो तो वह घटादिके समान अनात्मा ठहरे, किन्तु आत्मा-की अनात्मता कोई नहीं मानता। इसलिये प्रकाश, सुख तथा आत्मा, इन तीनोंका अभेद है। यहां प्रकाश-शब्दसे चैतन्यका और सुख-शब्दसे आनन्दका ग्रहण करना चाहिये। आत्मा, आनन्द तथा प्रकाश ये तीनों सत्तासे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जैसे सत्तासे भिन्न होनेसे वन्ध्या-पुत्र असत्य है, इसीप्रकार यदि ये सत्तासे भिन्न हों तो इन आत्मा, आनन्द तथा प्रकाशको भी वन्ध्या-पुत्रके समान असत्यता प्राप्त होती है परन्तु आत्माकी असत्यता कोई वादी नहीं मानता। जैसे आत्मा, आनन्द तथा प्रकाश ये तीनों सत्तासे भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार सत्ता भी इन तीनोंसे भिन्न नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा, आनन्द तथा प्रकाशसे सत्ता भिन्न हो तो घटादिके समान अनात्मरूप, दुःखरूप तथा जड़रूप हो और अनात्म-रूप होनेसे सत्ता वन्ध्यापुत्रके समान असत्य हो। यानी अपने स्वरूपका नाम आत्मा है। यदि अपने स्वरूपसे सत्ता भिन्न हो तो वन्ध्या-पुत्रके समान असत्य हो इसलिये सत्ता आत्मासे भिन्न नहीं है। यह सत्, चित्, आनन्दस्वरूप आत्मा हमारा-तुम्हारा सबका स्वरूप है। आत्मा देश, काल तथा वस्तु परिच्छेदसे रहित है इसलिये अनन्त है। जैसे रज्जुमें सर्प कल्पित है ऐसे ही अनन्त आत्मामें प्रपञ्च कल्पित है। कार्य, कारण, देश तथा कालादिके वाचकरूप, सर्व शब्दोंका तथा सर्व ज्ञानोंका विषयरूप परमात्मा ही है। इसीलिये वेदान्त-वाक्योंसे तथा वेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञानसे परिपूर्ण आत्माको मैं देखता हूं, अतएव मैं कृत-कृत्य हूं यानी जिस आत्मस्वरूपका निश्चय करनेके लिये दुःखरूप शरीरमें मैंने प्रवेश किया था, वह आत्म-साक्षात्कार अब प्राप्त कर लिया है, इसलिये अब मुझको कुछ भी कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार गुरु तथा वेदान्त वाक्य-ज्ञानसे परमात्मा अपने स्वरूपको अपरोक्ष देखने लगा, इस कारणसे ही 'इदन्द्र' इस नामको प्राप्त होकर आनन्दरूप आत्मा ब्रह्मरूप हो गया क्योंकि ब्रह्मके जाननेवालेको ब्रह्म-रूपता श्रुतिमें प्रसिद्ध है। इस इदन्द्र नामके परमात्माको अग्नि आदि देवता तथा देव भाववाले मनुष्य 'इन्द्र' ऐसे परोक्षनामसे पुकारते हैं, क्योंकि ये देवता प्रत्यक्ष नाम लेनेसे द्वेष मानते हैं, इसी कारणसे आजकल भी महान् पुरुषोंको आचार्य

आदि परोक्ष नामोंसे जो बुलाते हैं, उनसे महान् पुरुष प्रसन्न होते हैं और यदि देवदत्तादि साक्षात् नामोंसे महान् पुरुषोंको कोई बुलाता है तो उससे वे अप्रसन्न होते हैं। जब देवता तथा शिष्टपुरुष ही प्रत्यक्ष नाम लेनेसे द्वेष करते हैं तो परमेश्वर प्रत्यक्ष नाम लेनेसे द्वेष करे तो इसमें कहना ही क्या है। इदन्द्र नामके परमेश्वरको इन्द्र नामसे देवता बुलाते हैं और आप भी प्रत्यक्ष नामसे द्वेष करते हैं इसलिये विवेकी पुरुष देवताओं-को परोक्षप्रिय कहते हैं (इति तृतीय खण्ड)

गुरुः-हे शिष्य ! इस प्रकार सनकादि ऋषि सात्त्विकी प्रजाको आत्माका उपदेश करके फिर कहने लगे।

सनकादिः-हे आत्मज्ञानकी अधिकारिणी प्रजा ! यहांतक अध्यारोपापवादसे आत्माका स्वरूप हमने तुमको समझाया। आत्मा महावाक्यका तथा महा-वाक्यजन्य वृत्तिज्ञानका विषयरूप है तो भी तुम घटादिके समान आत्माको स्वरूपसे विषयरूप मत समझना। वेदान्तके तात्पर्य-ज्ञानद्वारा आत्माको अविषयरूपसे जानना चाहिये यानी जैसे गायको सींग पकड़के दिखा देते हैं, इस प्रकार आत्माके दिखानेमें कोई समर्थ नहीं है।

प्रजाः-हे भगवन् ! आप सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं इसलिये गायके समान साक्षात् आत्माका हमको उपदेश कीजिये।

सनकादिः-हे अधिकारी प्रजा ! अध्यारोपापवाद-रूप मायाके सिवा कौन पुरुष ऐसा समर्थ है, जो अद्वितीय आत्माका कथन कर सके तथा श्रवण कर सके? अध्यारोपापवादसे ही गुरु तथा शास्त्र आत्मा-का उपदेश करते हैं। इसीलिये तैत्तिरीय श्रुतिमें आत्माको मन तथा वाणीका अविषय कहा है और केनोपनिषद्में ऐसा कहा है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष-के मतानुसार आत्मा अविषयरूप है और अविवेकी पुरुषके मतानुसार आत्मा विषयरूप है क्योंकि अविवेकी पुरुष घटादिके समान बुद्धि आदिको आत्मा मानता है। कठोपनिषद्में ऐसा कहा है कि जो वाणीके अविषयरूप आत्माका वर्णन करता है वह आत्माका वक्ता आश्चर्यरूप है और इन्द्रियके अविषयरूप आत्माका जो श्रवण करता है, वह श्रोता भी आश्चर्यरूप है, जो आचार्यके उपदेशसे मनके अविषयरूप आत्माका साक्षात्कार करता है वह आत्माका लब्धा भी आश्चर्यरूप है। हे सात्त्विकी प्रजा ! इससे अधिक आत्माका स्वरूप कहनेमें हम समर्थ नहीं हैं। दिशामात्रसे हमने तुमको आत्माका उपदेश किया है। तुम सर्व युक्तियोंके तथा वेदान्त शास्त्रके भी जाननेवाले हो, इसलिये बुद्धिसे विचार करके आत्माको प्राप्त हो ! जैसे श्रीरामेश्वरकी प्राप्तिकी इच्छावाला पुरुष किसी पुरुषसे पूछता है कि मुझे कौनसे मार्गसे रामेश्वर जाना चाहिये, तब वह पुरुष उसे दक्षिण दिशा बता देता है, पीछे उस दिशाको जानेवाला पुरुष अपनी बुद्धिसे रामेश्वर पहुंच जाता है, इसी प्रकार हे प्रजा ! दिशा-मात्रसे हमने तुमको आत्मा बताया है, अब तुम अपनी बुद्धिसे आत्माको जानो ! वशिष्ठ भगवान्ने भी इसीप्रकार श्रीरामचन्द्रसे कहा हैः—

उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवलाम्॥

अर्थः—साधनचतुष्टय-सम्पन्न मुमुक्षुको श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाकर वेदान्तका श्रवण करना चाहिये, ऐसी श्रुतिकी आज्ञा है, इस आज्ञाके पालन करनेके लिये ही गुरुका शिष्यके प्रति उपदेश है। आत्म-साक्षात्कारका कारण शिष्यकी केवल शुद्ध बुद्धि ही है। अशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषको ब्रह्माके उपदेशसे भी आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। इसी कारणसे ब्रह्माके उपदेशसे विरोचनको आत्मज्ञान नहीं हुआ था। हे सात्त्विकी प्रजा ! वैराग्यरहित पुरुष इस आत्माको नहीं जान सकता, वैराग्यवान् पुरुष ही

आत्माके जाननेमें समर्थ होता है इसलिये हे प्रजा ! आत्माका साक्षात्कार करनेके लिये तुम वैराग्यका सम्पादन करो !

प्रजाः—हे भगवन् ! वैराग्यके सम्पादन करनेका क्या उपाय है ?

सनकादिः—हे प्रजा ! वैराग्यकी प्राप्तिका उपाय हम पूर्वमें तुमसे कह चुके हैं। सुखके साधनरूप स्त्री-पुत्रादिमें सर्वदा दोष देखो, यही वैराग्यकी उत्पत्तिका कारण है।

इस प्रकार अधिकारी प्रजाको उपदेश करके उनके शोकके हरनेवाले सनकादि महात्मा पुनः प्रश्न करनेकी इच्छावाले अधिकारियोंका अनादर करके, वहांसे अन्तर्धान हो गये। सनकादिके चले जानेके बाद दुर्लभ गुरुके लाभसे प्रसन्न मनवाली सब अधिकारी प्रजा परस्पर निम्नलिखित विचार करने लगीः—

प्रजाः—हम अधिकारियोंका अहोभाग्य है, कि सनकादि ऋषि हमारे गुरु हुए हैं। इन सनकादि ऋषियोंकी सर्व प्राणीमात्रमें समान दृष्टि है, ये काम-क्रोधादिसे रहित हैं। जैसे वायु बाहर तथा भीतर सञ्चार करता है वैसे ही सब प्राणियोंके भीतर तथा बाहर ये विचरनेवाले हैं। इनकी परोपकारमें सदा प्रीति है, और ये शीतोष्णके सहन करनेवाले हैं। दूसरोंके दोष कहनेमें इन्होंने मौन धारण कर रक्खा है। ये सर्व दोषोंसे रहित तथा आत्मज्ञानसे युक्त हैं। जैसे शरदृऋतुका समुद्र क्षोभसे रहित होता है वैसे ही ये भी क्षोभसे रहित निश्चल हैं ! ये निर्मल मनवाले तथा पूर्णिमाके चन्द्रमाकी कान्तिके समान कान्तिवाले हैं ! इन सनकादि ऋषियोंने हमारे हितके लिये हमको आत्माका उपदेश किया है, परन्तु वैराग्यके अभावसे हमारे लिये उनका सब उपदेश व्यर्थसा ही है, उनके इतना उपदेश करनेपर भी अबतक हमें आत्माका अपरोक्षज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। केवल परोक्षज्ञान मात्र ही उत्पन्न हुआ है। जैसे विद्या-अध्ययनके समय सामान्य रीतिसे अर्थ-ज्ञान होता है वैसे ही हमको भी आत्माका परोक्ष-ज्ञान हुआ है। सनकादिके वचनसे यज्ञादि कर्मके कर्ता-भोक्ता ऐसे हम अद्वितीय आत्म-स्वरूप नहीं हैं, इस प्रकारका महान् संशय हमको उत्पन्न हुआ है अर्थात् गुड़ यद्यपि मधुर-रसका कारणरूप है तो भी पित्त-रोगवाले पुरुषको गुड़ कटुताके अनुभवका कारणरूप होता है इसी प्रकार यद्यपि सनकादि ऋषियोंके वाक्य आत्मज्ञानके कारणरूप हैं तो भी हमारे दोषके कारण उन वाक्योंसे हमको संशय उत्पन्न हुआ है इसलिये सनकादिके वाक्योंमें हमारा मन स्थिर नहीं होता। क्योंकि सनकादिने हमको अद्वितीय आत्मस्वरूप कहा है किन्तु यह बन नहीं सकता क्योंकि हम कर्मके कर्ता-भोक्तारूप हैं तब अद्वितीय आत्म-स्वरूप कैसे हो सकते हैं ? हम अद्वितीय आत्मस्वरूप नहीं हैं। सनकादिने पूर्व अहं ऐसे शब्दका लक्ष्य तथा अहं ऐसे ज्ञानका विषय आत्मा बताया है, यह भी बन नहीं सकता, क्योंकि अहं ऐसे ज्ञानकी विषयता हममें नहीं है और अहं इस शब्दकी लक्ष्यता भी हममें नहीं है इसलिये हे अधिकारियो ! हमको आत्मामें दृढ़ असम्भावना उत्पन्न हुई है। इसी कारण हमारी असम्भावनाको देखकर हमारे बिना पूछे ही सनकादिने आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये हमको वैराग्य और वैराग्यका दोष-दृष्टिरूप उपाय भी बताया है। इसलिये हे अधिकारियो ! हम सब मिलकर पदार्थोंके दोषोंका विचार करें। प्रथम, शरीरमें क्या क्या दोष हैं, इसका विचार करना चाहिये। ऐसा विचारकर अग्निहोत्रके करने-वाले अधिकारी परस्पर मिलकर इस प्रकार विचार करने लगे। (क्रमशः)
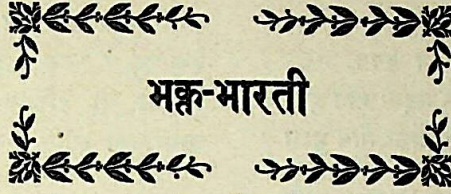
भक्त-भारती

(लेखक—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

(पूर्व प्रकाशितसे आगे)

अम्बरीष-अवहेलना

अर्थात्

दुर्वासा-दर्प-दलन

दोहा

जन्मा श्रीनाभागके, पुत्र एक विख्यात।
अम्बरीष अलिवर-रसिक, श्रीहरि-पद-जलजात॥

कार्तिक एकादशी भूपने रक्खी ईश रिझानेको,
अति श्रद्धासे अपने पिछले पाप ताप कट जानेको।
अम्बरीपका अन्तः हरिके भजनेसे था शुद्ध घना,
गो,ब्राह्मण,जन,अतिथि,दीनका परमभक्त वह विमल-मना॥

सब धन्धोंसे निपट, तीन दिन व्रत-युत भजन किया उसने,
सहज सुलभ होनेपर दुर्लभ अघ-हर अमृत पिया उसने।
भक्त-मण्डली-मध्य बैठकर लाज छोड़ गुण-गान किया,
जगा रात भर छका प्रेममें, प्रीति-सरितमें स्नान किया॥

हुआ सवेरा 'हरि हरि' करता लगा घूमने प्रेम-छका,
सरपट गतिसे दौड़ रहा मन, हरिके जपसे नहीं थका।
दुर्वासा आ गये अचानक, देख भूपने शिर नाया,
जान परम सौभाग्य, आज निज, भूप-दृगोंमें जल छाया॥

दोहा

अहा! आज पारण-दिवस, घरपर ऋषि मेहमान।
अनायास ही आ गये, रीझे श्रीभगवान॥
आसन ऋषिवरको दिया, बहुत प्रेमके साथ।
'हे मुनीश! आये भले, मुझको किया सनाथ॥'

हाथ जोड़कर करी प्रार्थना भोजन करने हेतु वहीं,
सत्य प्रेमके आगे कोई 'ना' कर सकता भला कहीं?
मुनिने की स्वीकार प्रार्थना, यमुना-तट स्नानार्थ गये,
नृपके मन-मानसमें फिरते-तिरते भाव मराल नये॥

हरिने कैसी की अनुकम्पा ऋषिको यहां उठा लाये,
पारणके दिन पाप निवारण कारण ऋषिवर घर आये।
स्वयं खड़े हो होकर राजा भोजन बनता देख रहे,
'देखो, त्रुटि रह जाय न कुछ भी' पाचक-गणसे यही कहे॥

इधर द्वादशी एक घड़ी है, शेष त्रयोदशि आती है,
जो न द्वादशोंमें पारण हो, व्यर्थ इकादशि जाती है।
उधर महा-मुनि तर्पण, सन्ध्या, जपमें जा लवलीन हुए,
धर्म-विपदमें पड़े भूपवर बिना नीरके मीन हुए॥

'पारण जो न करूं तो जाती एकादशी निरर्थक है,
जो न जिमाऊं अतिथि प्रथम तो धर्म न रहता सार्थक है।'
पूज्य ब्राह्मणोंसे नृपवरने पूछा 'क्या मैं करूं अहो!
बात रहे औ धर्म न जावे, ऐसी कोई युक्ति कहो॥'

दोहा

विप्र-वृन्दने सोच कर, कहा 'करो जल-पान।'
पारण नृपवरने किया, सोच समझ कल्यान॥

सन्ध्यादिकसे निपट महामुनि चले झूमते नृप-घरको,
नृपने सविनय शीश नवाया, आते देख मुनीश्वरको।
मुनिने धरकर ध्यान विलोका, नृपने पारण किया अहो!
गर्व-धनुषपर क्रोध बाण धर, भूप लक्ष्य कर लिया अहो!

प्रथम सहज ही क्रोधी, दूजे, क्षुधा-प्रपीड़ित,तीजे तेज,
ओंठ फरकने लगे क्रोधसे, बिखरा विकट जटा-बन्धेज।
दाँत पीस कर बोले, 'देखो' यह हरि-भक्त कहाता है,
धन-मदान्ध, अति ढीठ, धर्मको निर्भय यों ठुकराता है?

अतिथि बना मैं इसका सो तो यमुना-तट बैठा भूखा ,
यह महलोंमें बैठ जीमता, कैसा कठिन हृदय, रूखा ?
नहीं अतिथि अपमान हुआ यह, इसके मदका गान हुआ ॥
नहीं धर्म-अपमान हुआ यह, है अधर्मका मान हुआ ॥

नहीं, नहीं, मैं अब ही इसको इसका मजा चखाता हूँ ,
'देख देख रे ! देख, तुझे मैं अपने हाथ दिखाता हूँ ।'
देकर झटका एक क्रोधसे अपनी जटा उखाड़ी एक ,
दुर्वासाने अपने हाथों भर ली दुखकी गाड़ी एक ॥

दोहा

अम्बरीष पर छोड़ दी, कृत्या वह तत्काल ।
प्रबल अनलकी झल सदृश, झपटी ले करवाल ॥
सम्मुख जोड़े हाथ युग, राजा खड़ा प्रशान्त ।
हरि यह लीला देखकर, कब रह सकते शान्त ॥

चला सुदर्शन चक्र घूमता कृत्याका "इतिकृत्य" किया ,
प्रखर अनलसे कमल सदृश वह रक्षित अपना भृत्य किया।
हुआ शान्त अब भी न सुदर्शन दुर्वासापर टूट चला ,
मुनि-पासे विपरीत पड़ गये, भगा, कि जाना अभी जला ॥

आगे हैं दुर्वासा पीछे चक्र सुदर्शन तेज भरा ,
छिपनेको भी ठौर न पाई, मुनिने जाना, अभी मरा ।
मेरु-गुफामें, भूमण्डलमें, नभमें सात पतालोंमें ,
सप्त सागरों, त्रैलोकोंमें, ढूँढ़ा सौ सौ तालोंमें ॥

गये हाँफते विधिके सम्मुख, 'भगवन् ! रक्षा करो, करो ,
शरणागत हूँ अभय-प्रदायक निजकर मम शिर धरो धरो' ।
ब्रह्मा बोले हँसकर, 'मुनिवर, अच्छी आपद पीछे की !
मुझसे लेकर सर्व शक्तियां हैं सब उससे नीचेकी ॥

उसका दोषी हम न रख सकें, हम तो आज्ञाकारी हैं ,
फिर तुम उसके भक्त-द्रोही इससे डरते भारी हैं ।
हरि निज-दोषी नहीं देखते जैसे भक्त-द्रोहीको ,
जहां पसीना पड़े भक्तका देते वहां स्व-लोहीको ॥

भलीभाँति हम हरिको जानें, फिर क्यों आपद शिर ठावें ,
मुनिवर, ठौर न यहां शरणको, इच्छा रही, जहाँ जावें' ।

दोहा

कोरा उत्तर श्रवणकर, विधि-मुखसे तत्काल ।
दुर्वासा-आशा दली, हुआ विकल, बेहाल ॥

भगा तुरत ही जटा बखेरे भयसे तनकी सुध त्यागे ,
देख देख रे जगत् ! देख तू, गर्व जा रहा है भागे ।
अहंकार जो हरिजन अपना हरिको सौंप दिया करते ,
अम्बरीषकी भाँति उन्होंका श्रीहरि पक्ष लिया करते ॥

गया जहां कैलाश शिखर-पर ध्यानावस्थित शंकर थे ,
तेज त्रिशूल गड़ा था सम्मुख, सारे साज भयंकर थे ।
जटा—जूटपर फण फैलाये, गर्ज रहा था प्रबल फणी ,
भुजदण्डोंसे लिपट रहे थे सर्प, चस रही चक्षु-मणी ॥

'जला जला हे भगवन् !' जब यह शब्द दूरसे कान पड़ा ,
मदन-दहनकी याद दिलाई--हुँसरा शिवका बैल बड़ा।
ध्यानावस्थित शंकरके जा पद-कमलोंमें शिर नाया ,
भयसे भारी विकल हुआ है, धूज रही थर्थर काया ॥

'हे गिरीश ! हे शम्भो ! शूलिन् ! हे शरणागतके सङ्गी ।
त्राहि, त्राहि हे शर्व ! डाल दो इधर कृपाकी भ्रूभङ्गी ।'
हरने खोले नेत्र, कहा 'हे मुनिवर ! कैसे काँप रहे ?'
हे हर ! मेरी रक्षा कर लो—चक्र सुदर्शन अभी दहे ॥'

दोहा

'यहां चक्रके चोरको, नहीं छिपनको ठौर ।
सेवक कैसे रख सके, निज स्वामीका चौर ॥
जो मेरा चित चोर है, तू है उसका चोर ।
चरण उसीके जा पकड़, भाग उसीकी ओर ॥

पापीसे भी पापी अपने पापोंकी कर याद कभी ,
रोकर हरिके चरण पकड़ ले, हरि अपनावें उसे तभी ।
मान, लाज, छल-छद्म छोड़कर रोकर हरिकी ओर भगो ,
हरिके ठगनेकी यह विधि है, तुम्हें बता दी, शीघ्र ठगो ॥

हरिकी ओर चलोगे जितने पाप कटेंगे उतने ही ,
हे मुनिवर, यह निश्चय जानो, दीनबन्धु हैं वे स्नेही ।'
मुनिवर हरिकी शरण भगे झट, शिवको शीश नवा करके ,
अब तो चले सुधा-सरवरको, गर्व-धतूरा खा करके ॥

परमधाम, वैकुण्ठ विराजें जहां चराचरके स्वामी ,
सज्जन-आपद सहज विनाशक, त्रासक असुर, गरुड़गामी।
हरिके चरणोंमें जा मुनिने अश्रु बहाते सिर टेका ,
उष्ण अश्रु ये दुखित हृदयके, उरको भयने था सेंका ।

मुनि बोले 'हे नाथ ! तुम्हारा मैंने जाना नहीं प्रताप ।
भक्त आपका बहुत सताया, शिरपर है यह मेरे पाप ।
पीछे पड़ा सुदर्शन मेरे, उरको पाप जलाता है,
त्राहि, त्राहि हे नाथ ! जला मम तन मन सब कुछ जाता है ॥

दोहा

'नाथ ! आपके नामसे, नरक-भीति हो दूर ।
मैं शरणागत आपकी, करो कष्ट यह चूर ॥'
'हे ब्राह्मण ! मम भक्त हैं, प्यारे मुझे विशेष ।
वह मेरा ही शत्रु है, जो दे उनको क्लेश ॥
जन मेरे आधीन हैं, मैं उनके आधीन ।
कैसे तज दूं मैं उन्हें, जो मुझ जलके मीन ॥

भक्त मुझे निज सर्वस देकर मुझको वश कर लेते हैं,
नारी पतिव्रता निज पति ज्यों, मेरा मन हर लेते हैं ।
मेरे भक्त न मुक्ति चाहते, मेरी सेवा तज करके,
अपनेको कृतकार्य मानते प्रतिपल मुझको भज करके ॥

मुनिवर, जाओ ! निज अपराध क्षमा करवाओ भूपतिसे,
है कल्याण इसीमें निश्चय जानो मेरी सम्मतिसे ।
सन्त महात्मा भक्तोंके उर कोमल होते हैं भारी,
क्षमा करेंगे तुरत तुम्हारा नृप अपराध दयाधारी ॥

भक्तोंका कुछ नहीं बिगड़ता उन्हें कष्ट पहुंचानेसे,
दुख पाते हैं दुखदाता ही भक्त अहेतु सतानेसे ।
मुनिवर ! शान्ति मिलेगी तब ही क्षमायाचना करो वहां,
अब न विलम्ब करो बस ज्यादह, मत भटको मुनि, जहां तहां ॥'

मुनिने जा तत्काल भूपके पद-नखोंमें शिर नाया,
ब्राह्मण निज चरणोंमें देखा नृपको बहुत तरस आया ।
मुनिका सब अपराध भूलकर आप हाथ मल पछताया,
मेरे कारण हाय ! मुनीश्वर देखो कितना दुख पाया ॥

दोहा

चक्र शान्ति-हित नृपतिने, की विनती तत्काल ।
चक्र-स्तुति करने लगे, भूपति परम दयाल ॥

सवैया

हे खल-पुञ्ज-विनाशक चक्र ! करो करुणा मुनि भाजन हारयो,
आपहिं कीजै कृपा अब या पर तीनोंहि देवन याहि बिसारयो ।
मींजत हाथ रह्यो पछितात सु आपुने गर्व सों आपहिं बिगारयो,
आय गयो शरणौ तुलसी तब ऐसे अधीनको मारयो न मारयो ॥

हे जनपालक चक्र ! तुम्हें यह दास प्रणाम करे बहुबारी,
हे भगवानके अस्त्र महाप्रिय, दुष्टविनाशक, हे लयकारी ।
हे शुभ दर्शन ! चक्र सुदर्शन ! भवभयभञ्जन विश्वविहारी,
राखिये, राखिये तेजहिं रोक्यो न डारिये क्रोध किधौं चिनगारी ॥

दोहा

अबतक जो मैंने किये, दान, पुण्य, तप, कर्म ।
वे मुनिकी रक्षा करें, जो सचा हो धर्म ॥
इतना कहते ही अहो, चक्र हो गया शीत ।
शान्ति मुनीश्वरको मिली, गद्गद हुए, अभीत ॥

मुनि बोले हरि-भक्तोंकी मैं महिमा जानी आज अहो !
हरिको वश कर लिया जिन्होंने उनको क्या कुछ कठिन कहो ?
कौन कठिन है काम विश्वमें जिसे न हरिजन साध सकें,
रहते हैं बेखबर विश्वसे हरि-रति मदिरा रहें छकें ॥

'धन्य धन्य हे राजन् ! तुम हरि-भक्ति-सरितमें न्हाते हो,
हरि-कल्पद्रुमकी छायामें बैठ त्रिताप नसाते हो ।
मुझपर की अनुकम्पा कितनी भूल गये अपराध महा !
चक्रानलसे मुझे बचाया धन्य दयालो ! भूप ! अहा !'

सुनकर अपनी श्लाघा नृपको लज्जा-आँधीने घेरा,
अपनी श्लाघा सुनकर होता मुदित नहीं हरिका चेरा ।
हरि-जन सब ही कामोंमें हैं हरिका हाथ लखा करते,
अपने किये परम कार्योंकी श्लाघा सुनते हैं डरते ॥

भोजन करने हेतु नृपतिने मुनि-चरणोंमें शिर नाया,
ऋषिने भोजन किया तुष्ट हो, रोम रोममें सुख छाया ।
आशिर्वाद दिया नृपवरको 'राजन् ! यह शुभ यश तेरा,
गावेंगी सब काल देवियां जानो सत्य वचन मेरा ॥'

दोहा

भोजन करवा भूपको, ले आज्ञा तत्काल ।
ब्रह्मलोक ऋषिवर गये, रच इतिहास रसाल ॥
राजन् ! यह नृप-भक्तकी, पुण्य-कथा सप्रेम ।
सुनें सुनावें जो सुजन, सदा सदन हो क्षेम ॥

बहिनके नाम एक भाईका पत्र*

॥ ओं श्रीहरिः शरणम् ॥

श्रीमती बहनाजी,

जय श्रीकृष्ण !

मैं आपके पाससे आकर ऋषिकेश होते हुए गढ़मुक्तेश्वरमें यात्रियोंकी सेवा करनेके लिये चला गया था। रातको वहांसे आया। आशा है आप भी सानन्द गङ्गा-स्नानसे निवृत्त हो गयी होंगी। महात्मा श्रीतुलसीदासजीने एक जगह लिखा है—

> सुत, दारा अरु लछमी, पापीके भी होय।
> सत्सङ्गति अरु हरि-भजन, तुलसी दुर्लभ दोय ॥

सारी दुनियाँको—स्त्री-पतिको—सब सुख होनेपर भी "हमारे सन्तान हो" "सन्तान हो" इस लालसासे इधर उधर भटकते देखा जाता है—ऐसी भटकन भी चाहे पूरी हो गयी हो। जिसके स्त्री नहीं है वह पुरुष स्त्रीकी खोजमें मतवाला देखा जाता है, ऐसे पुरुषको चाहे रंभा और उर्वशीसी स्त्री मिल जाय, और पुरुषकी खोजमें फिरनेवाली स्त्रीको चाहे इन्द्रसे अधिक ऐश्वर्यशाली और कामदेवसे सुन्दर पुरुष मिल गये हों। सब दुनियां इधर उधर दौड़ती नाना प्रकारके जाल रचती और पाखण्डोंमें फंसी हुई किसलिये देखी जाती है ? 'लक्ष्मी' के लिये। ऐसी लक्ष्मी भी चाहे मिल जाय, लाखों करोड़ों रुपये भी पास हो जायँ, इससे हुआ क्या ? श्रीतुलसीदासजी महाराज वर्णन करते हैं कि अनेक तरहकी चालें और चालाकी खेलकर ये ऊपर लिखी बातें चाहे कोई भी प्राप्त कर ले। हाय, इतने उद्योग और धन्धेके बाद भी जिसको प्राप्त करके, मनुष्य समझता है—'मैंने गढ़ जीत लिया।' उससे हुआ क्या ? हुआ वह 'पापी' संसारमें मनुष्यको किस तरह चलना चाहिये, इस बातको सिखानेवाले शास्त्रोंकी सम्मतिमें वह क्या हुआ ? 'पापी'। बस, वह "पापी" कहलाने लायक बन गया। इसलिये गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—फिर वह 'मनुष्य' कब बनेगा ? जब वह सत्सङ्गतिमें पड़ेगा—सत्सङ्ग मिलना ही कठिन है। अच्छे प्रारब्धसे या भगवान्की ही कृपासे सत्सङ्गति मिल जाती है। विभीषणने हनुमानजीसे कहा था—

> "अब भा मोहिं भरोस हनुमन्ता,
> बिनु हरि कृपा मिले नहिं सन्ता।"

आजकल सत्सङ्गतिका अभाव हो गया है बहनाजी ! वशिष्ठ, महर्षि व्यास, श्रीशुकदेव, कपिल कणाद, गौतम आदि ऋषि-मुनि कहीं मर थोड़े ही गये हैं— हैं यहाँ ही। फिर वे हम लोगोंको क्यों नहीं मिलते ? इसीलिये नहीं मिलते कि हम लोगोंके

---

* एक भाईने अपनी बहिनको पत्र लिखा था, पत्रकी नकल एक प्रेमी सज्जनने उनकी आज्ञासे 'कल्याण'में प्रकाशनार्थ भेज दी है। उपयोगी समझकर पत्र यहां प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादक

हृदय बहुत ही तुच्छ और परस्परके व्यवहारमें चालें खेलनेवाले नीच हो गये हैं। जहां कोई मलीन समाज बैठा हो—सुलफा, शराब पी रहा हो, अपनी असभ्यताभरी निरुद्देश्य गपशप लड़ा रहा हो, तुम वहां जाकर क्यों नहीं बैठ सकती ? इसीलिये कि उनका व्यवहार तुम्हारी दृष्टिमें नीचा है। उस नीचतामय, असभ्यतामय, मनुष्यता-रहित परस्परके व्यवहारको तुम पसन्द नहीं करती, ठीक यही बात यहां भी घटा लो- हमारा पारस्परिक चालचलन उनको (ऋषि-मुनियोंको) नहीं भाता। इसीलिये वे हम लोगोंके पास आकर नहीं बैठते। अतएव बहनाजी, जो सत्सङ्गति करनेकी इच्छा रखनेवाला हो, उसे भी चाहिये कि अपने व्यवहारको ऊंचा बनावे। सत्सङ्गति करनेकी इच्छा रखनेवाला यदि यह कहे कि 'मेरा व्यवहार क्या नीचा है ?' तो इस समय तक उसकी आंखोंपर अविद्याका पर्दा पड़ा हुआ है। वह इस बातको उसी तरह नहीं जान सकता जैसे उपर्युक्त मलिन समाज अपने व्यवहारकी त्रुटियोंको नहीं समझता, अतएव आपसे भी मेरी नम्र प्रार्थना है, कि आप अपने सांसारिक व्यवहारको ऊंचा बनाइये। मेरा हृदय यह भी जानता है, आपमें गुण भी बहुत हैं। अहा आनन्द ! इससे अधिक आपमें और क्या गुण होगा कि आप श्रीकृष्ण परमात्माकी भक्त बनना चाहती हैं। अब मैं आपके गुण और अवगुण दोनोंको ही इस विचारसे आपके सामने रखता हूं-कि; आप अपने गुणोंमें तो वृद्धि करें और अवगुणोंको छोड़ दें।

गुण

(क) श्रीकृष्ण-परमात्माकी भक्तिकी चाहना।
(ख) गंभीरता।
(ग) नीतिज्ञता।
(घ) स्वभाव-सिद्ध स्त्रियोंकीसी चंचलताका अभाव।
(ङ) मितव्ययिता (अपने द्रव्यका जोड़ना)
(च) प्रेमीस्वभाव।

अवगुण

(क) चाह होनेपर भी ऐसे बानकोंका न बनाना जिनसे भक्ति बढ़ सके।
(ख) अदृढ़ता (सांसारिक लोगोंसे डर जाना)
(ग) नीतिको चालबाज़ीकी रीतिमें बदल देना।
(घ) अधिक विचारा-विचारोंसे अच्छे कार्यको स्वयं बिगाड़ बैठना।
(ङ) सत्सङ्गतिका बानक बनानेवाले और भगवान्‌का भजन करनेवाले, अपने कर्त्तव्यको पूरा करनेवाले कामोंमें भी कंजूसी करना।
(च) सन्देह भरी तबियत (शक्की मिज़ाज)

इन अपने छः गुणोंके साथ इन छः अवगुणोंको, बहनाजी ! जोड़कर देखो, फिर देखो- कैसी उथल-पुथल मच जाती है। ऐसी ही मच भी रही है। विचारकर—मननकर समझो न ! इन अवगुणोंके रहते 'सत्सङ्गति' का सच्चा रस चाखना कठिन हो जाता है। जब सत्सङ्गति नहीं तो भगवान्‌का भजन कहाँ ?

गुसाँईजी कहते हैं—

तब यह जीव विविध विधि, पावे संसृति क्लेश।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाय विहँगेश॥

इसीलिये अन्यत्र सत्सङ्गतिकी यह प्रशंसा है—

तात, स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अङ्ग।
मिले न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्सङ्ग॥

सत्सङ्गति मिलनेके लिये धन-दौलतकी तो कौन कहे, अपने शरीरके खूनसे सींच-सींचकर सत्सङ्गतिकी खेती की जाय तो भी बुरी नहीं। अरे, सोचो, समझो, चेतो, ज़रा गौर करो। अपने पासका धन (बीज-जीवन) ज़मीनमें

फेंककर ही किसान इस क्षणिक खेतीको अपना पाता है। तब फिर—

नर, संसारी लगन में, दुख, सुख सहैं करोर।
'नारायण' हरि लगनमें, जो कछु होय सो थोर॥

जिसके प्राप्त करनेमें अपनी आत्माको बेचना पड़ता है, जिसके पास रखनेमें अपनी जानका भी ख़तरा रहता है, भयसे सुखकी नींद सो भी नहीं सकते। हा! ऐसे उस धनकी तीन गति होती है—

दानं[1], भोगो[2], नाशस्तिस्रो[3] गतयो भवन्ति वित्तस्य।

(१) जिसके पास धन हो, और यदि वह बुद्धिमान् हो, तो उसे चाहिये—इस प्रकार उसका व्यय करे जिससे उसे सत्सङ्गति प्राप्त हो। (यह धनकी सबसे उत्तम गति है)

(२) अपने शरीर, मन, और बुद्धिके बढ़ानेमें और इन्द्रियोंकी ताकतको ठीक रखनेमें खर्च करे। (यह धनकी बिचली गति है)

(३) जिसके पास धन है और वह इन ऊपर लिखी दोनों बातोंमें अपने धनको नहीं लगायेगा वह कंजूस हाथ मल-मलकर पछतायेगा, उसके धनसे दूसरे मौज उड़ायंगे, और मूछोंपर ताव देंगे। (यह अधम गति है)

अर्थात्—सत्सङ्गतिकी इच्छा रखनेवाले धनिकका कर्तव्य है कि वह अपने धनका उपर्युक्त पहले कार्यमें सदुपयोग करे। दूसरे कार्यमें सदुपयोग करनेवाले व्यक्तिका नम्बर दो स्वयं ही बन जाता है, और तीसरा तो नम्बर तीनमें आनेवाली पश्चात्ताप-पंक्तिके बाहर सहज ही आ बैठता है।

अरे हुआ क्या? तुमने किया क्या? सारा संसार ही इस धन-दौलतके पीछे मर मिट रहा है, तुम भी मरमिटे तो फिर⋯⋯ इस मार्गमें चलनेवालेकी तारीफ़ हुई क्या ख़ाक? क्यों सन्देहमें पड़े हो? यहां सन्देहका काम ही क्या है? यह तो ध्रुव सत्य है। संसारी मनुष्य अपने बलपर कूंदते हैं। फूँकसे पहाड़ तक उड़ानेका मनसूबा गांठ लेते हैं। यह उचङ्ग—यह तरङ्ग और यह ऐंठ—यह टेढ़ी पाग किसलिये है? समझीं? अपने भरोसेपर? हाय! हाय!! ये अपने भरोसे पर इतना भरोसा कसे बैठे हैं, पर, तुम उसके भरोसे पर कृपण बने बैठे हो—धिक्कार! धिक्कार! अफसोस!!

बहिनका दीन भैया

—:*:—

दिलकी बिदाई!

पिघला जो वासनाकी वह्निसे हमारा दिल,
आँसू बन-बनके, न जाने कहाँ बह गया!
चाहता था कहना कलेजेकी कसक वह,
किन्तु व्यथा भारसे, न हाय! कुछ कह गया!
अपनी तरंगमें तिरोहित हुआ वो, जब—
दिल ही नहीं, तो अरमान कौन रह गया?
दूर होके उसने हमारा बड़ा साथ दिया,
"मुक्ति-पथ पाया, कामनाका दुर्ग ढह गया!

रामसेवक त्रिपाठी

आध्यात्मिक चिन्तन

(लेखक—एक चिन्ताशील सज्जन)

उत्तम कर्मके फलका नाम सुख है। जो उत्तम कर्म करते हैं उनको सुख अवश्य मिलता है। बिना उत्तम कर्म किये केवल चाहनेमात्रसे सुख कैसे मिलेगा? नीच कर्मके फलका नाम दुःख है इसलिये जो नीच कर्म करते हैं उनको दुःख अवश्य मिलता है। केवल न चाहनेसे वह मिट नहीं जायगा, मिलेगा ही। यह कार्य-कारणके नियमका चक्र अनादिकालसे घूमता चला आता है, बड़ा-छोटा जो कोई भी इस चक्रके चक्करमें आ जाता है, वह अवश्य कुचला जाता है। मा-बाप मर जानेसे छोटा बच्चा निस्सहाय चिल्लावे तो चिल्लाया करे। उसकी पुकारसे अथवा किसी निस्सहाया दुखिया विधवाके आँसुओंसे उस चक्रकी गतिमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। जबतक जीव मायाके बन्धनमें रहेगा, बराबर दुःख-सुख भोगता ही रहेगा। मायासे छूटकर भगवत्-सन्निधिमें पहुँच जानेपर तो उसको कोई भय नहीं।

× × ×

जन्म-मरणका चक्कर अथवा आवागमनका झगड़ा तो मायामण्डलके भीतर है। उत्तम कर्मके फलसे प्राप्त स्वर्ग-सुखकी भी अवधि आ जाती है। क्योंकि उत्तम कर्म अवधिवाला है तो उसका फल स्वर्ग-सुख भी अवधिवाला ही है। पुण्यका फल भोग लेनेके अनन्तर स्वर्गसे फिर मर्त्यलोकमें आना ही पड़ता है और फिर वही जन्म और उसके बाद मृत्यु। वही क्रम, वही सिलसिला।

× × ×

ईश्वर, जीव और मायाका नित्यत्व शास्त्रसिद्ध है। ये तीनों ही अनादि हैं। कपिल मुनिके मतानुसार 'कुछ नहीं' मेंसे कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। कार्य अपने कारणमें रहता है। स्थूल-सूक्ष्मका भेद भले ही पड़ा रहे। इसमें कोई हानि नहीं। ईश्वर, जीव, माया ये तीनों अब भी हैं, पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। इनका न आदि है और न अन्त है। तैत्तिरीय उपनिषद्के एक वचनमें मायाको स्पष्टतया अजा कहा गया है। अजाका अर्थ है— जिसका जन्म नहीं, अनादि। इसी प्रकार जीवको 'अज' कहा है। इसका भी वही मतलब। "अजामेकाम् लोहितशुक्लकृष्णाम् बह्वीं प्रजाम् जनयन्तीं सरूपाम् अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनाम् भुक्तभोगामजोन्यः" अर्थात् एक अजा है, वह लाल श्वेत और काली है, अपने रूपके समान ही बहुत प्रजा उत्पन्न करती है, एक 'अज' उसमें अनुरक्त हुआ रहता है, दूसरा अज है वह इस भुक्तभोगाके बन्धनमें नहीं रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि रज, सत्त्व, तम ये तीन गुण मायाके हैं। लाल सफेद और काला यह तीन रंग इन तीन गुणोंके हैं। इसीलिये अजा— नहीं जन्म लेनेवाली— मायाको इन तीन रंगोंवाली कहा गया है।

अश्वसे अश्व, हाथीसे हाथी और मनुष्यसे मनुष्य इसी तरह समानरूप उत्पत्ति इस मायामण्डलमें होती आती है। कार्यमें कारणका रूप किसी न किसी प्रकारसे आजाता है अतएव अजा मायाको अपने रूपके समान बहुत प्रजा उत्पन्न करनेवाली कहा है। एक 'अज'

अर्थात् नहीं जन्म लेनेवाला इस मायाके भोगोंमें लगा रहता है और दूसरा 'अज' अर्थात् नहीं जन्म लेनेवाला इस मायाको छोड़ देता है।

× × ×

वास्तवमें 'नाश' किसी द्रव्यका सर्वथा अभाव होजानेका सूचक नहीं है बल्कि कार्य अपनी कारणावस्थाकी सदृशतापर चला जाय अथवा परिणामी द्रव्यका परिणाम हो जाय—उसको 'नाश' शब्द कहकर व्यवहार करते हैं। नित्य वस्तुका सर्वथा अभाव कैसे हो सकता है ? गीताका वचन है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् असत्का भाव नहीं होता है और सत् जो अविनाशी है उसका अभाव नहीं होता।

× × ×

माया और जीव दोनोंका नाम परिणामी है। परिणामके दो भेद हैं—(१) स्वरूप-परिणाम (२) स्वभाव-परिणाम।

मायामें यह दोनों होते हैं किन्तु जीवमें स्वरूप-परिणाम नहीं होता, केवल स्वभाव-परिणाम ही होता है। ईश्वरमें दोनों ही परिणाम नहीं होते। ईश्वरका सब व्यवहार स्वतन्त्रतापूर्वक है, कर्मबन्धनसे नहीं। यों ईश्वर, माया और जीवका भेद स्पष्ट है। दूसरे शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि ईश्वरकी स्थिति स्वतन्त्र है। जीव और माया—चित् एवं अचित्—की स्थिति स्वतन्त्र नहीं है।

वस्तुतः सत् वस्तुका अभाव नहीं होता। साधारण जन किसी जीवको जलता देखकर उसके जल जानेपर सर्वथा अभाव होना समझ लेते हैं, यह ठीक नहीं,—उसको अभाव नहीं कहा जा सकता। जीव एवं शरीरका जो शरीर-शरीरीरूपसे अतिनिकटतम सम्बन्ध है इसीसे उसका जलना दिखायी देता है, परन्तु वास्तवमें जीव जल ही नहीं सकता। गीताका वचन है—"नैनं दहति पावकः"। इसके अतिरिक्त शरीर जलनेके सम्बन्धमें भी यह समझना चाहिये कि शरीर जिन तत्त्वोंसे बना है, वह सब तत्त्व उस शरीरके जलनेपर अपने अपने मूल तत्त्वोंमें मिल जाते हैं और जीव स्वकर्मवशात् दूसरे शरीरमें जा विराजमान होता है।

इस शरीरमें जीव शरीरी है, इसीप्रकार जीव शरीर है और उसमें परमात्मा शरीरी है। चित् और अचित्का प्रपञ्च परमात्माका शरीर है। सुबालोपनिषद्में यह सब स्पष्ट लिखा है। यथा—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरोयमयति एषत आत्मान्तर्याम्यमृतः। यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरोयमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मनमन्तरोयमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

अर्थात् जो परमात्मा पृथ्वीमें ठहरा हुआ पृथ्वीसे पृथक् है, पृथ्वी जिसको नहीं जानती है, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वीको भीतरसे यमन करता है वह तेरे आत्माका अन्तर्यामी है और मरण-धर्मरहित है, जो आत्मामें टिका हुआ आत्मासे पृथक् है, आत्मा जिसको नहीं जानता है आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माको भीतरसे यमन करता है वह तेरे आत्माका अन्तर्यामी है और अमृत है। अन्तर्यामीका अर्थ है जो भीतरसे यमन करे। परमात्माका अर्थ है आत्माका भी आत्मा। क्योंकि शरीरमें जैसे आत्मा जीव है वैसे ही जीवका भी आत्मा परमात्मा है। परमका मतलब यह है कि इसके परे कोई नहीं। यह नाम ही शरीर शरीरी भावको धारण किये हुए है। इस प्रकार मुख्य शरीरी परमात्मा ही ठहरता है। छान्दोग्य उपनिषद्का वचन है—"अन्तःप्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा—अर्थात् जो भीतर प्रवेश किये हुए जनोंका शासन करता है वह सर्वात्मा है। इससे यह समझनेमें कठिनता न होगी कि जीव, ईश्वर, माया ये तीनों ही नित्य हैं सही किन्तु इनमें मुख्य ईश्वर अथवा परमात्मा ही है। यमन करना—शासन

करना उसीका काम ठहरा। यमन करनेसे तात्पर्य-अपने अधिकारमें रखना-यथेच्छ चलाना है। इसीको शासन करना कहा जा सकता है।

उद्धृत उपनिषद्-वाक्यमें यह आया है कि वह आत्माका अन्तर्यामी है, आत्मा जिसको नहीं जानता है। इससे जीव-ईश्वरमें वास्तविक भेद सिद्ध है क्योंकि यदि भेद न हो—दोनों एक ही हों तो एकके भीतर एक है और परमात्माको जीवात्मा नहीं जानता, यह अर्थ कैसे बन सकता है? इसके अतिरिक्त देखना चाहिये। शरीरके लक्षण हैं—नियम्यत्व (चलाया जाय जैसे चलनेकी व्यवस्था) धार्यत्व (धारण रक्खे जानेकी व्यवस्था) और शेषत्व (अधीनता)। इसी तरह शरीरीके लक्षण हैं-नियामकत्व (अधिकारपूर्वक चलानेवाली व्यवस्था) धारकत्व (धारण करनेवाली व्यवस्था—जिसके आश्रयसे धार्य पदार्थ स्थिर रहें) और शेषित्व (स्वामीपन), यह व्यवस्थाएं अचेतन शरीर और जीव शरीरीके आपसमें रहती हैं। इसी प्रकार प्रपञ्च शरीर और परमात्मा शरीरीके परस्परमें है। क्योंकि परमात्माका शरीर होनेसे जीवात्मामें ये शरीरके तीनों लक्षण परमात्माकी अपेक्षा अवश्य रहेंगे किन्तु इतनी और विशिष्टता रहेगी कि अपना शरीर जैसे जड़ है वैसे परमात्माका शरीर जो जीव है वह जड़ नहीं है। यह ऐसा सम्बन्ध है कि इससे जीव-ईश्वरमें अभेद दिखानेवाले वाक्यों-की सङ्गति बैठती है। अन्यथा वास्तविक अभेद तो है ही नहीं. शरीरी प्रधान होनेसे विशेष्य कहाता है, जीव और मायाको अप्रधान होनेसे उसका विशेषण कहा जाता है। वास्तवमें प्रपञ्च और अन्तर्यामीके परस्पर भिन्न रहनेपर भी वैसा भेद तो हुआ नहीं जैसा लोकमें स्वामी-सेवकका होता है। इसीलिये यह नहीं कहा जाता है कि तीनोंकी स्थिति पृथक्-पृथक् है। बल्कि कहा यह जायगा कि तीनोंका एक पुञ्ज है और वही पुञ्ज सृष्टिका कारण है। जिस प्रकार कारण अवस्थामें तीनोंकी विद्यमानता है उसी प्रकार कार्य अवस्थामें तीनों रहते हैं।

× × ×

कारणरूप जो ईश्वर, माया, जीव, तीनोंका एक पुञ्ज है, उसीका नाम ब्रह्म है। श्वेताश्वतरोपनिषद्-का वचन है, —"भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मैतत्।" अर्थात् भोक्ता (जीव), भोग्य (माया), प्रेरिता (प्रेरणा करने वाला ईश्वर) इनको मानकर इस समस्त त्रिविध-को ब्रह्म कहा है। कोई शंका कर सकता है कि माया तो जड़ है, किन्तु जीव एवं ईश्वर चेतन और मिले हुए हैं, फिर दोनोंको एक ही क्यों न मान लिया जाय? पर एक नहीं माना जा सकता। कारण, दोनोंमें परिणामी और अपरिणामीका भेद बना हुआ है। इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतरो-पनिषद्में लिखा है—"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।" अर्थात् जीवात्मा और प्रेरणा करनेवाले ईश्वरको पृथक् मानकर इसका अनुसन्धान करनेसे अमृतत्वको पाता है अर्थात् आवागमनसे छूटता है। यह छूटनेका व्यवहार जीवके लिये ही है क्योंकि माया तो स्वयं जड़ और बन्धनरूप है। परमात्मा बन्धनसे मुक्त है। हां, तीनोंका पुञ्ज एक ब्रह्म है। उस पुञ्जमें एक भीतरसे यमन करनेवाला परमात्मा प्रधान होनेके कारण और शरीर-शरीरीभावमें अभेद-व्यवहार होनेके कारण तैत्तिरीय उपनिषत्में कहा गया है कि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु-प्रविश्य सच्चत्यच्चाऽभवत्।" अर्थात प्रपञ्चको बनाकर उसमें अनुप्रवेश किया—अनुप्रवेश करके सत् और त्यक् हो गये। इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टिके अनन्तर भगवान् भीतर अनुप्रवेश करके आप ही सत् भी हो गये, त्यक् भी हो गये। अर्थात् चेतनाचेतन हो गये क्योंकि चेतन अचेतन इन दोनोंका फैलाव सृष्टिरचनासे हुआ

तथा सृष्टिकी स्थिति तक रहेगा। इसमें भगवदिच्छा ही मुख्य है। इसीलिये यों कहा जाता है।

× × ×

प्रलयकालमें जो स्वरूप रहता है वह कारण-रूप होनेसे उसको सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट कहा जाता है। इसी प्रकार सृष्टिकालमें जो स्वरूप रहता है वह कार्यरूप होनेसे उसको स्थूल चिदचिद्विशिष्ट कहा जाता है। यह दोनों विशिष्ट स्वरूप हुए। इसमें अद्वैत अर्थात् वास्तविक अभेद होनेसे इस सिद्धान्तको विशिष्टाद्वैत कहते हैं और इस अभेदका सूचक ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

एक समय कामारपूकुरमें एक यात्रा-मण्डली आयी। गदाधर इस समय बारह वर्षका हो गया था। भगवान् शिवका अभिनय कराना लोगोंने निश्चय किया। अभिनयका सब प्रबन्ध हो गया था कि अकस्मात् वह व्यक्ति, जिसे शिव बनना था, बीमार हो गया। इस कारण शिवका भाग लेनेके लिये सर्वसम्मतिसे गदाधर ही योग्य समझा गया। उसको शिवरूपमें सजाया गया। सिरपर जटाजूट, अङ्गमें विभूति, हाथमें त्रिशूल, कमरमें कौपीन आदि धारण कर शिवके वेषमें जब वह मञ्चपर आया तो लोग उसे देखकर स्तम्भित हो गये। सबको वह साक्षात् महादेव ही जँचने लगा। गदाधर जब शिवरूप बनकर मञ्चपर खड़ा हुआ तब उसके हृदयमें शिवका अभिनिवेश हो आया, उसकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी और समाधि-अवस्थामें अचेत होकर वह मञ्चपर गिर पड़ा। लोगों-को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसे घर पहुंचा दिया। गदाधरकी इस प्रकारकी भावावस्था बचपनसे ही हो जाया करती थी जो आगे चलकर युवावस्था और वृद्धावस्थामें क्रमशः प्रबल होती गयी। पहले तो उसकी मा और स्वजनोंको इस भावावेशसे चिन्ता होती थी परन्तु जब इससे गदाधरके शरीरमें कोई हानि प्रतीत नहीं हुई तब क्रमशः उनकी चिन्ता जाती रही। किसी भी देवताका आराधन करते या भजन सुनते ही उसकी बाह्य-चैतन्यता जाती रहती, और वह तुरन्त ही अन्तर्मुख हो जाया करता। लोगोंके पूछनेपर कहता कि समस्त देवताओंके आकारके पीछे एक अखण्ड परमेश्वर विद्यमान है और उसी सत्यरूपका मुझे दर्शन होता है। गदाधरको जब कभी मौका मिलता, अपने मित्रोंको साथ लेकर किसी आमके बगीचेमें जाकर रामायण या महाभारत-के किसी भागका खेल खेलता और भजन-संकीर्तन किया करता। भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधा-की लीलाका अभिनय उसको सबसे अधिक प्रिय था। जब वह स्वयं श्रीकृष्ण बनकर गान करता या राधाका भाग लेता तो तुरन्त ही भावमें अन्तर्मुख हो बाह्यज्ञान-शून्य हो जाया करता।

इस प्रकार उसका चित्त ज्यों ज्यों भगवान्के अनन्त लीला-चिन्तनमें आसक्त होता गया,

त्यों-ही-त्यों पढ़ने लिखनेमें उसकी रुचि कम होती गयी। उसके भाई रामेश्वरका विवाह हो चुका था और वह बड़ी कठिनाईसे अपना निर्वाह करता था। सर्वमंगला भी ब्याही जा चुकी थी। बड़े भाई रामकुमारकी स्त्रीके पुत्र हुआ और प्रसूतिकालमें राजकुमारकी भार्याका देहान्त हो गया। इधर रामकुमारकी आजीविका भी कम हो गयी थी। चन्द्रमणिको फिर कष्टका सामना करना पड़ा। पुत्रवधूके घर रहनेपर वह गृहकार्यकी चिन्तासे मुक्त हो गयी थी परन्तु उसकी मृत्युसे अब घरका सारा भार फिर उसीपर आ पड़ा। इन दुर्घटनाओंसे गदाधरके चित्तमें संसारकी असारताका भान होने लगा, पठन-पाठन तो अब केवल नाममात्र ही रह गया था। बहुधा वह अपना अधिक समय भगवत्-चिन्तनमें ही व्यतीत करने लगा। इसके बाद रामकुमार आजीविकाके निमित्त कलकत्ते चला गया और वहां संस्कृत-पाठशाला स्थापित कर कुछ धनोपार्जन करने लगा। इधर कामारपूकुरमें रहकर गदाधर माके गृहकार्यमें सहायता देता और माता तथा ग्रामकी स्त्रियोंको, जो गदाधरको बहुत प्यार करती, और प्रतिदिन संध्या-समय चन्द्रमणिके घर आया करती थीं, भजन सुना सुनाकर आह्लादित किया करता था।

पहले कह आये हैं, कि गदाधरको श्रीराधा-कृष्णके अद्भुत प्रेम और माधुर्यका भाव बड़ा रुचिकर था। अब वह इसी भावमें निमग्न रहने लगा। समय समयपर गोपी-भावमें प्रेमविभोर हो जाया करता था। कभी कभी गोपी-वेष धारणकर गागर सिरपर रख तालाबमें जल भरने जाता और कभी राधाका भाव लेकर श्रीकृष्ण-विरहमें हृदय हिलानेवाला गान गाता, जिससे सुननेवालोंका हृदय करुणासे भर जाता। अब उसकी रुचि पढ़नेसे बिल्कुल उठ गयी और उसने पाठशाला जाना छोड़ दिया।

रामकुमार कलकत्तेमें विद्यार्थियोंको पढ़ाकर और एक देवालयमें पूजा-कार्यकर जो कुछ कमाता, उसीसे कुटुम्बका निर्वाह हो जाता था। एक बार जब रामकुमार, मातासे मिलने कामारपूकुर गया तो उसने गदाधरको पढ़ना छोड़कर बेकार फिरते देखा। इसलिये वह उसे कलकत्ते ले गया। उसने विचार किया कि वहाँ यह अच्छी तरह संस्कृत भी पढ़ लेगा और साथ ही पाठशाला-कार्यमें भी सहायता मिलेगी। गदाधर भाईके साथ कलकत्ते आ गया और उसीके पास रहने लगा। एक दिन वह पाठशालाके बरामदेमें बैठा था, इतनेमें एक विद्यार्थी हाथमें कुछ पैसे और फल लेकर आया। गदाधरके पूछनेपर उसने कहा कि, 'पड़ोसके एक परिवारमें पूजन करानेसे उसे यह दक्षिणा मिली है।' गदाधरने कहा, 'बस, इतने वर्ष विद्याध्ययनका यही फल है?' इतना कहकर गदाधरने पुस्तक रख दी। इसी समयसे विद्योपार्जनसे उसका मन बिल्कुल हट गया। विद्यार्थियोंको पढ़ाकर और लोगोंके घरोंमें पूजाकार्य करके भी कलकत्तेमें रामकुमारकी आमदनी पर्याप्त नहीं थी, वह गदाधरको इसीलिये लाया था कि वह अच्छी विद्या पढ़-लिखकर कुछ कमाने लगे, जिससे कुटुम्ब-पालनमें सहारा मिले। परन्तु गदाधरकी रुचि विद्याध्ययनकी ओर न देखकर एक दिन रामकुमारने उससे कहा कि 'तुम्हें इस प्रकार समय नष्ट करना उचित नहीं, अब तुम बड़े हो गये हो, अच्छी तरह पढ़-लिखकर कुटुम्बका पालन-पोषण करना चाहिये। विद्या-लाभ करनेसे भविष्य-जीवन भी सुधरेगा और आनन्दसे आजीविका भी चलेगी। गदाधरके मनपर इस बातका कुछ भी असर नहीं हुआ। उसने भाईसे कहा कि 'दादा! मुझे ऐसी विद्या पढ़नेकी इच्छा नहीं, जो केवल पेट भरनेके लिये ही काममें आवे, मैं तो वह विद्या लाभ करना चाहता हूं जिससे नित्य तृप्तिकी प्राप्ति हो।' रामकुमारने निराश होकर गदाधरको इस विषयमें अधिक कहना बन्द कर दिया। उसकी आजीविका दिनों दिन घटती गयी, परन्तु श्रीरघुवीरपर भरोसा करके वह अपना काम

करता रहा। जब आर्थिक दशा बहुत शोचनीय हो गयी, तब भगवान्‌की कृपासे आप ही एक ऐसा बानक बना जिससे उसकी चिन्ता बहुत कुछ कम हो चली और गदाधरके जीवनका भविष्य अपूर्व सार-गर्भित हो गया।

कलकत्तेमें रानी राशमणि नामक एक धनी विधवा रहती थी,उसके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति थी। पतिके देहान्त होनेपर उसने बड़ी योग्यतासे अपनी जायदादका प्रबन्ध किया। वह स्वभावसे ही परम उदार और दयाशीला थी। उसकी स्वधर्ममें बड़ी निष्ठा थी। भगवती कालीमें तो उसकी अटल श्रद्धा और प्रेम था। राशमणिने बड़े उत्साहसे कालीजीका एक विशाल मन्दिर बनवाया, लाखों रुपये खर्च हुए। यह मन्दिर कलकत्तेके उत्तरकी ओर भागीरथीके तटपर है। यही स्थान श्रीरामकृष्णकी जीवन-लीलाका मुख्य केन्द्र है। मन्दिर बन गया, रानीको विशाल मन्दिरकी अपूर्व शोभा देखकर बड़ा आनन्द हुआ, परन्तु देव-मन्दिरमें प्राण-प्रतिष्ठा हुए बिना वह बिना जीवका देह-सा है। इसीलिये प्रतिष्ठाकी परमावश्यकता होती है। वेदमन्त्रोंद्वारा शास्त्र-विधिसे बहुतसे विद्वान् ब्राह्मण कई दिनोंमें इस कार्यको सम्पन्न करते हैं। रानीको अब बड़ी चिन्ता हुई, रानी जातिसे शूद्र होनेके कारण कोई भी ब्राह्मण इस कार्यके लिये तैयार नहीं हुआ। इस विपत्तिके समय रामकुमारने रानीकी सहायता की, उसने शास्त्रोंके अनेक प्रमाण देकर ब्राह्मणोंको समझा-बुझाकर प्रतिष्ठा करानेके लिये सहमत कर लिया। प्रतिष्ठा पूरी हो गयी। रानीने बड़े आनन्द और श्रद्धासे इस कार्यको सम्पन्न किया। लाखों रुपये खर्च किये गये, प्रचुर दान दिया गया। रानीकी परम अभिलाषा पूर्ण हुई। अब एक अड़चन और आयी। प्रतिष्ठा तो हो गयी, परन्तु पुजारीका काम कौन करे? कोई भी ब्राह्मण इस कार्यको स्वीकार नहीं करता था। आखिर रामकुमारसे ही प्रार्थना की गयी कि वही इस कार्यको भी स्वीकार करें। रामकुमारने स्वीकार कर लिया और देव-पूजनका भार अपने ऊपर लेकर काम करने लगे। गदाधर भी भाईके साथ प्रायः दक्षिणेश्वर जाया करता था। रानी राशमणिके जामाता मथुराबाबू बड़े श्रद्धालु और उदार सज्जन थे, वह गदाधरको प्रायः वहां देखा करते थे। उनका मन उसकी ओर बहुत आकर्षित हुआ और उन्होंने चाहा कि गदाधर भी रामकुमार-के साथ पूजा-कार्यमें सहयोग दे। पहले तो गदाधर इनकार करता रहा परन्तु शेषमें रामकुमारके समझानेसे वह सहमत हो गया। अब वह बड़े प्रेमसे 'मा काली'की सेवा करने लगा। वह ऐसी निष्ठा और तन्मयतासे भगवतीकी पूजा करता कि देखनेवाले लोग चकित हो जाते। गदाधर 'मा काली' की मृण्मयी मूर्तिको साक्षात् चिन्मय आद्या शक्ति ही मानता था, उसके चित्तमें वह निर्जीव विग्रह नहीं थी। वास्तवमें अटल विश्वास ही सफलताका बीज होता है, बिना पूर्ण श्रद्धा और विश्वासके कोई भी कार्य पूरा नहीं हुआ करता। यह ठीक है कि विश्वास बड़े भारी पर्वतको भी अपनी जगहसे हिला सकता है। महान् पुरुषोंने जो कुछ प्राप्त किया है और जो कुछ कर दिखाया है वह उनके अपूर्व विश्वासका ही चमत्कार है।

गदाधरकी साधना यहींसे आरम्भ होती है और यहींसे अब हम उन्हें श्रीरामकृष्णके नामसे सम्बोधन करेंगे। अब वह तन-मनसे भगवती काली-की सेवामें तत्पर हो गये। प्रातःकाल उठकर माके लिये बगीचेसे उत्तम उत्तम पुष्प चुनकर इकट्ठे करते और गंगाजल भरकर लाते। चन्दन घिसकर तैयार करते, कर्पूर आदि पूजाकी सारी सामग्री सजाकर मन्दिरमें रख देते। यह पहले कहा जा चुका है कि वह काली-विग्रहको साक्षात् चिन्मय आद्या शक्ति ही समझते थे। इसलिये बड़े चाव और प्रेमसे मा की सेवा किया करते थे। तत्त्वको न जानने वाले श्रद्धाविहीन मनुष्य इस प्रकारके विश्वासको अन्ध-विश्वास कहते हैं पर साथ ही, आश्चर्य है,

कि वह भगवान्‌को सर्वव्यापक भी बतलाते हैं। जान पड़ता है कि उनका यह व्यापकताका भाव केवल कथनमात्र है, यदि इसमें विश्वास होता तो एक विग्रह ही क्यों, वे समस्त विश्वको ही भगवत्-सत्तासे पूर्ण समझते। आँखें चाहियें! आवश्यकता है अन्तर्दृष्टिकी। फिर तो सारा जगत् चिन्मय प्रतीत होगा, यह सकल दृश्य भगवान्‌की अचिन्त्य लीला जान पड़ेगा, वही विश्वत्राता सब समय सभी ठौर खेलते दिखायी देंगे। सबसे पहले विश्वासकी ज़रूरत है। गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा चाहिये। फिर कार्यमें तल्लीन हो जाना ही सफलता-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। कोई भी कार्य किया जाय, वह इसी क्रमसे पूरा होता है। ऐसे श्रद्धालु मनुष्योंने ही कुछ सिद्धि प्राप्त की है, ऐसे ही महापुरुष जगत्‌के पथ-प्रदर्शक हो गये हैं। इसी विश्वासको लेकर श्रीरामकृष्णने भी साधन आरम्भ किया और मा कालीकी सेवा-पूजामें वह ऐसे निमग्न हो गये कि कभी कभी तो बाह्यज्ञानके अभावसे वह पूजाका क्रम ही भूल जाते, कभी आरती करनेमें समयका विस्मरण हो जाता और घण्टों आरती ही करते रहते। कभी माको पुष्प समर्पण करते समय काली-का विग्रह सामनेसे अन्तर्हित हो जाता और अपने ही भीतर उसका अनुभवकर वह अपने ही सिर पर पुष्पाञ्जलि चढ़ा देते। कभी ध्यानमें ऐसे लीन होते कि पूजा करना भूल जाते। इसप्रकारके आचरणोंसे अन्य ब्राह्मण सेवक बहुत अप्रसन्न होते, वे सब राम-कृष्णको धमकाते। रामकुमारको भी उनका यह आचरण अच्छा नहीं लगता, वह भी उन्हें समझाने-का प्रयत्न करते। केवल रानी राशिमणि और मथुराबाबू ही उनके इस भावको समझ सके थे। जब सब लोग उन्हें पागल समझकर घर भेज देनेको कहते तब रानी कहती कि 'रामकृष्ण भगवती-के प्रेममें पागल है, उसे यहां ही रहना होगा।' रानीकी ओरसे उन्हें पूरी स्वतन्त्रता दे दी गयी और वह अपने भावके अनुसार पूर्ववत् कार्य करते रहे।

इस समय श्रीरामकृष्णकी फुफेरी बहिन-का लड़का हृदयराम, जो उनके समवयस्क ही था, मन्दिरमें देवपूजाके लिये नियुक्त हो गया था। दोनोंमें आपसमें बड़ी प्रीति थी, बचपनसे ही साथ रहनेके कारण परस्पर स्वाभाविक ही प्रेमभाव था। हृदयराम अबसे बराबर श्रीरामकृष्णके साथ रहा और उनके भविष्य-जीवनमें बहुत सहायताकी।

एक समय श्रीराधाकृष्णके मन्दिरके पुजारीके हाथसे भगवान्‌की मूर्तिका चरण खण्डित हो गया। इसपर रानीको बड़ी चिन्ता हुई, क्योंकि भगवान्‌की मूर्तिका खण्डित हो जाना कुलके लिये अशुभ माना जाता है। विद्वान् पण्डितोंको बुलाकर उन लोगों-से राय ली गयी। सबने एकमत होकर यही कहा कि इस मूर्तिको गंगामें बहाकर नयी मूर्तिकी स्थापना करनी चाहिये। रानी राशमणि-को भगवान्‌की इस मूर्तिके प्रति बड़ा आदर और प्रेम था। इसलिये उसने इस सम्मतिसे सन्तुष्ट न हो श्रीरामकृष्णसे पूछा। उन्होंने कहा कि 'यदि रानीके जामाताका पैर टूट जाय तो क्या रानी उनके पैरकी चिकित्सा न कर, कोई दूसरा जामाता बना लेगी।' इस उत्तरसे सब विस्मित हो गये और यही निश्चय हुआ कि ठाकुरका चरण जोड़ दिया जाय और मन्दिरमें यही विग्रह स्थापित रहे। चरण जोड़नेका काम श्रीरामकृष्णके सुपुर्द किया गया, वह इस काममें बड़े निपुण थे। विग्रह जब ठीक करके दिखाया गया तो यह पता नहीं लग सका कि जोड़ कहां है। अबसे श्रीराधा-कृष्णकी पूजाका कार्य श्रीरामकृष्णको ही सौंपा गया और हृदयराम-को रामकुमारकी सहायताका भार दिया गया!

(क्रमशः)

हठ-योग

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

चित्त-वृत्तियोंके निरोधद्वारा आत्म-साक्षात्कार करनेके लिये अनुष्ठित द्वितीय श्रेणीकी क्रियाओंका नाम हठयोग है। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि मन्त्र, हठ, लय और राज, इन चारों प्रकारके योगोंके साधनमें जितनी भी प्रकारकी क्रियाओंका उपदेश किया गया है, उनमेंसे अधिकांश क्रियाएं गुप्त और केवल गुरु-मुखसे जानने योग्य होनेके कारण शास्त्रीय ग्रन्थोंमें उनकी सम्पूर्ण विधियां नहीं मिलतीं और जो कहीं उनका कुछ वर्णन देखनेमें आता भी है तो उससे, क्रियाको गुप्त न रखनेके कारण पूर्ण फलकी प्राप्ति नहीं होती। अनधिकारीके लिये तो बुद्धि-भेद भी होजाता है। ये सब क्रियाएं जब योग्य गुरुदेवके द्वारा प्राप्त होती हैं, तभी पूर्णरूपसे परिज्ञात होनेपर वह पूर्ण फल प्रदान करनेमें समर्थ होती हैं। यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि पातञ्जल-योगदर्शनमें जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि बताये गये हैं, वही आठों अङ्ग चारों प्रकारकी योग-विधियोंके मूलरूप हैं, केवल क्रिया-राज्यमें सुविधा-के लिये कहीं कहीं अङ्गोंकी वृद्धि या न्यूनता देखनेमें आती हैं। योगके अष्टाङ्गका वर्णन केवल योगदर्शनमें ही नहीं, श्रुतियोंमें भी स्थान स्थानपर कहीं साक्षात् और कहीं परोक्षरूपसे मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥
समे शुचौ शर्करावह्विवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥
नीहारधूमार्कानलानिलानां।
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्॥
एतानि रूपाणि पुरस्सराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणियोगे॥
पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते॥
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च॥
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

उन्नत वक्षस्थल, ग्रीवा और मस्तक-विशिष्ट शरीरको समभावमें स्थापित करके, मनसहित अन्यान्य इन्द्रियोंको भी हृदयासीन ब्रह्ममें निविष्ट

कर प्रणवरूप जहाजकी सहायतासे उपासक संसार-समुद्रको पार करेंगे।

साधक सचेष्ट होकर प्राणायाम-क्रियासे प्राणवायुको प्रपीड़ित करके श्वास-प्रश्वासकी क्रिया करेंगे और आलस्य-रहित होकर दुष्ट घोड़ोंसे युक्त रथकी तरह मनको स्थिर कर लेंगे। समतल, पवित्र, कंकर, बालू या अग्नि-शून्य, शब्द, जल या आश्रयद्वारा चित्तके अनुकूल, नेत्रोंको सन्तोषजनक गुफा आदिकी तरह, वायु-प्रवाहशून्य, आश्रययुक्त स्थानमें मनको योगनिविष्ट करना चाहिये।

ब्रह्म-दर्शनके पहले योगीको कुछ वस्तुएँ देखनेमें आती हैं। कभी कुहेरा, कभी धुआं, और कभी कभी सूर्य, अग्नि,वायु, बिजली, खद्योत, स्फटिक, चन्द्रकी तरह दृश्य देखनेमें आते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश—इन पञ्चतत्त्वोंके गुण योगीको प्रत्यक्ष होने लगते हैं, जिससे उसका शरीर योगाग्निसे निर्मल होकर रोग, जरा और दुःखसे मुक्त हो जाता है। उस समय योगीका शरीर लघु, रोगरहित, सुन्दर वर्ण, और सुगन्धयुक्त हो जाता है, ऐसा योगी निर्लोभ, सुन्दर-स्वर, स्वल्प मूत्र-पुरीष-वाला होता है। यही योगीका प्रथम योग-लक्षण है। इस तरह श्रुतियोंमें भी योगका वर्णन देखनेमें आता है। नादविन्दु, ध्यानविन्दुयोग-उपनिषद्, कैवल्य-उपनिषद्, शाण्डिल्य-उपनिषद् आदि अनेक उपनिषदोंमें भी योगका वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य संहिता, सूतसंहिता आदि आर्ष-ग्रन्थोंमें भी योगका वर्णन मिलता है। पद्मपुराण मार्कण्डेय पुराणमें भी योगका प्रचुर वर्णन मिलता है। शिवसंहिता, ब्रह्जामल, रुद्रजामल आदि तन्त्र-ग्रन्थोंमें तथा गोरक्ष-संहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि आधुनिक योगशास्त्रीय ग्रन्थोंमें भी योग-क्रियाओंका वर्णन देखनेमें आता है।

परन्तु इन सब ग्रन्थोंके देखनेपर भी इस योग-विद्याको गुरु-मुखसे जाननेकी अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि साधन-सम्बन्धिनी विद्या सिद्ध गुरुसे ही प्राप्त हो सकती है। ग्रन्थोंसे उसका पूर्ण ज्ञान नहीं मिल सकता। इसलिये हठ-योग, लय-योग और राज-योगके क्रिया-सिद्धांशका रहस्य श्रीमद् सद्गुरुसे ही जानना चाहिये।

योगशास्त्रमें हठ-योगके लक्षणोंका निरूपण इस प्रकार है—प्राण, अपान, नाद, बिन्दु,जीवात्मा और परमात्माके मेलसे उत्पन्न होनेके कारण इस स्थूल शरीरका नाम घट है, जलमें जैसे मिट्टीका कच्चा घड़ा सदा जीर्ण रहता है, इसी तरह यह शरीररूप घट सदा ही जीर्ण रहा करता है। इसलिये योगरूपी अग्निमें पकाकर इस घटकी शुद्धि करनी चाहिये।

जीर्ण-भावयुक्त स्थूल शरीरको हठ-योगके साधनद्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीरको भी योगानुकूल बनाया जाता है। स्थूल-शरीर सूक्ष्म-शरीरका ही परिणाममात्र है इसलिये सुकौशल-पूर्ण क्रियाओंके द्वारा स्थूल शरीरको वशमें कर क्रमशः सूक्ष्म शरीरपर आधिपत्य-लाभ करके चित्त-वृत्तिका निरोध किया जा सकता है। जिन क्रियाओंसे ऐसा किया जाता है उनका नाम हठ-योग है। मन्त्र-योगमें जिस प्रकार भावपूर्ण, स्थूल ध्यानकी विधि है, वैसे ही हठ-योगमें ज्योति-कल्पनारूप, ज्योतिर्ध्यानकी विधि है। मन्त्र-योग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि लाभ करनेकी साधन-प्रणाली प्रचलित है, हठ-योगमें वायुनिरोधद्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव समाधि कहते हैं और हठ-योगकी समाधिको महाबोध समाधि कहा जाता है। अस्तु! अब हठ-योगके अङ्गोंका वर्णन किया जाता है।

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः
ध्यानसमाधिसप्तैवाङ्गानिस्युर्हठस्य योगस्य।

१ षट्कर्म, २ आसन, ३ मुद्रा, ४ प्रत्याहार, ५ प्राणायाम, ६ ध्यान, और ७ समाधि, हठयोगके

यही सात अङ्ग हैं। षट्कर्मोंसे शरीर-शोधन, आसनोंसे दृढ़ता, मुद्राओंसे स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायामसे लाघव, ध्यानसे आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिसे निर्लिप्तता या मुक्ति होती है। इन सब मानसिक, आध्यात्मिक लाभोंके अतिरिक्त हठ-योगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गोंके साधनसे शारीरिक स्वास्थ्य-विषयक भी बहुत लाभ होता है जो योगिराज गुरुदेवसे जानने योग्य है।

अब इसके अङ्गोंका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है।

> धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकीत्राटकं तथा ।
> कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति षट्कर्मके यह छः साधन हैं। इनमें धौतिके चार भेद हैं। जैसे अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन इन चार प्रकारकी धौतिके द्वारा शरीरको निर्मल करना चाहिये। अन्तर्धौतिमें भी चार भेद हैं।

> वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
> घटनिर्मलतार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥

वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत-सार ये चार प्रकारकी अन्तर्धौति हैं, जिनसे शरीर निर्मल होता है।

वातसारका लक्षण यह है कि, ओठोंको काक-चञ्चुकी तरह बनाकर धीरे धीरे वायु पान करके उस वायुको उदरके भीतर चालित करे और पीछे मुखसे धीरे धीरे उसका रेचन करे, यह क्रिया अग्नि-वर्धक और सर्व रोगक्षयकारक है।

वारिसारका लक्षण यह है कि वस्त्रसे जलको छानकर वह जल धीरे धीरे कंठपर्यन्त पी लेवे, फिर उस जलको गुदा-मार्गसे निकाल देवे। इस क्रियासे देह निर्मल होती है और देववत् देहकी प्राप्ति होती है।

अग्निसारका लक्षण है, नाभिग्रन्थिको खींचकर सौ बार मेरुदण्डके साथ मिलाया जाय, इससे योगियोंको योगसिद्धिप्रद अग्निसार क्रिया होती है।

बहिष्कृत धौतिका लक्षण यह है कि, काकीमुद्राके द्वारा उदरमें वायु भरकर आधे पहरतक उस वायु-को उदरमें धारण करे, पश्चात् गुदा-मार्गसे उसे रेचन कर देवे। अन्तर्धौतिके चार भेदोंकी तरह दन्तधौतिके भी पांच भेद हैं।

> दन्तस्य चैव जिह्वाया मूलं रन्ध्रश्च कर्णयोः ।
> कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिर्विधीयते ॥

दन्तमूल, जिह्वामूल, दोनों कर्ण-रन्ध्रमूल, और कपालरन्ध्र, इन पांच स्थानोंके शोधनसे दन्तधौति क्रिया होती है।

हृद्धौति तीन प्रकारकी है, जैसे दण्डधौति, वमनधौति और वासधौति। रम्भादण्ड हरिद्रा-दण्ड, वेत्रदण्डको हृदयमें चालित करके धीरे धीरे निकाल लेनेसे दण्डधौति होती है। वमन-धौतिका लक्षण यह है कि बुद्धिमान् साधक भोजनके अन्तमें आकण्ठ जल पीकर क्षणभर ऊर्ध्वदृष्टि रखकर उस जलको मुखसे निकाल देवे। इससे कफ और पित्तका नाश होता है। वासधौतिका लक्षण यह है, कि चार अंगुल चौड़ा सूक्ष्म वस्त्र धीरे धीरे ग्रास करके पुनः उसे बाहर निकाल देवे। इससे गुल्म, ज्वर, कफ, पित्त, प्लीहा, कुष्ठ आदिका नाश होता है।

मूलशोधनका लक्षण यह है, हरिद्रामूलदण्ड और बीचकी अंगुलीसे गुह्यस्थानको बारबार प्रक्षालित करना। इससे कोष्ठबद्धता व आमका अजीर्ण नष्ट होता है। कान्ति, पुष्टि और जठराग्निकी वृद्धि होती है।

षट्कर्मके अन्तर्गत द्वितीय क्रियाका नाम वस्ति है जो कि दो प्रकारकी है। जलवस्ति और शुष्कवस्ति। इनमें जलवस्तिका साधन जलमें और शुष्कवस्तिका साधन स्थलमें हुआ करता है। नाभि-पर्यन्त जलमें अवस्थित होकर उत्कटासनद्वारा गुह्य-देशके आकुंचन और प्रसारणद्वारा नलीकी सहायतासे जलवस्तिका साधन होता है। इसी

भांति थलपर शुष्कबस्ति हुआ करती है। इससे प्रमेह, उदावर्त, क्रूर वायुका नाश होकर कामदेवके समान सुन्दर शरीर होता है।

षट्कर्मान्तर्गत तीसरे कर्मका नाम नेति है। आधा हाथ परिमाण सूक्ष्म सूतको, जो अनुभवी पुरुषोंद्वारा बनाया जाता है, नासिकामें प्रवेश कराकर पीछे मुखसे निकाल लेनेसे नेतिका साधन होता है। इससे कफ-दोषका नाश और दिव्य नेत्र-शक्ति प्राप्त होती है ।

षट्कर्मान्तर्गत चौथे कर्मका नाम नौलि है। प्रथम उत्कटासनमें स्थित होकर वायुके रेचनद्वारा पेटको पीठसे मिलाकर प्रबल वेगसे पेटको दोनों पार्श्वोंमें घुमानेसे नल उखड़कर घूमने लगते हैं जिससे लौलिकी क्रिया सिद्ध होती है। इस क्रियाके होनेसे ही बस्ति हो सकती है।

षट्कर्मान्तर्गत पञ्चम कर्मका नाम त्राटक है। किसी सूक्ष्म वस्तुपर दृष्टि रखकर जब तक दोनों नेत्रोंसे अश्रुपात न होने लगे, तबतक निमेष-उन्मेष त्यागकर दृष्टि स्थिर रखना। इसीका नाम त्राटक है। इस मुद्राके अभ्यासीको शाम्भवी मुद्रामें सहायता मिलती है और नेत्ररोग नाश होता है।

षट्कर्मान्तर्गत षष्ठ क्रियाका नाम कपालभाति है। वातक्रम, व्युत्क्रम और शीतक्रम—इस तरह कपालभाति तीन प्रकारकी होती है। 'वातक्रम' कपालभातिका लक्षण यह है कि वाम नासिकाद्वारा वायु पूरक करके दक्षिण नासिकाद्वारा उसका रेचन किया जाय और इसी तरह दक्षिण नासिकाद्वारा पूरक करके वाम नासिकासे वायु-रेचन किया जाय। यह वातक्रम कपालभातिका साधन है। इसमें पूरक-रेचक बलपूर्वक नहीं करना चाहिये। धीरे धीरे करना चाहिये। इससे कफ-दोष नाश होता है। 'व्युत्क्रम' कपालभातिका लक्षण यह है कि दोनों नासिका-छिद्रोंसे जल खींचकर मुखसे निकाल दिया जाय, फिर मुखसे ग्रहणकर नासिकासे निकाल दिया जाय। ऐसा करनेसे व्युत्क्रम कपालभातिका साधन होता है। इससे श्लेष्मा-दोष दूर होता है। 'शीतक्रम' कपालभातिका लक्षण यह है कि मुखद्वारा शीत्कार-पूर्वक वायु ग्रहण करके नासिकाद्वारा निकाल देनेसे शीत्क्रम कपालभातिका साधन होता है इससे सौन्दर्य-वृद्धि, देह-स्वच्छन्द, कफ-नाश और जरा-नाश होता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्थूल शरीर-पर आधिपत्य जमाकर सूक्ष्म शरीरकी सहायतासे चित्तवृत्ति-निरोध करनेकी सुकौशल-पूर्ण क्रियाओं-का नाम ही हठ-योग है। अतएव स्थूल शरीरको शुद्ध करनेकी जो क्रियाएँ हैं वे ही हठ-योगमें प्रथम-स्थानीय होती हैं। इसीलिये हठ-योगमें षट्कर्मको सबसे पहले स्थान दिया गया है।

हठ-योगके द्वितीय अङ्गका नाम आसन है। आसनोंके अभ्याससे शरीर योगोपयुक्त और मन स्थिर हो जाता है। जगत्‌में जितनी जीव-योनियां हैं, उतने ही आसन हैं। श्रीमहादेवजीने पुराकालमें चौरासी लक्ष आसनोंका वर्णन किया था। उनमेंसे चौरासी आसन विशेष हैं। इनमेंसे भी इस मर्त्य-लोकमें तैंतीस आसन मंगलजनक हैं। उनके नाम हैं—

सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, सङ्कटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तान-मण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुड़ासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन, और योगासन, ये तैंतीस सिद्धिदायक आसन हैं।

आसन कैसे देशमें करने चाहिये, इस विषयमें योगशास्त्रका उपदेश है कि सुराज्य, सुधार्मिक,

सुभिक्ष और उपद्रवरहित देशमें शिला, अग्नि और जलसे अलग रहकर एकान्तस्थानमें छोटीसी कुटिया बना उसके बीचमें बैठकर योगसाधन करना चाहिये।

साधन-गृहका द्वार छोटा होना चाहिये, उसमें कोई गड़हा नहीं होना चाहिये। बहुत ऊंचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये। वहां मकड़ीका जाला वगैरह नहीं होना चाहिये। स्थान गोबरसे लिपा हुआ कीड़ोंसे रहित होना चाहिये। इस प्रकारके स्थानमें चित्तको अन्य चिन्ताओंसे रहित करके सद्गुरुदेवके उपदेशानुसार आसन बांधकर साधन करना चाहिये।

अभ्यासार्थ विशेष विशेष उपयोगी कुछ आसनों की विधि यहां लिखी जाती है, जिनकी हठयोगाभ्यासीको विशेष आवश्यकता है।

सिद्धासन—जितेन्द्रिय साधक बायीं पड़ीसे गुदाको और दहिनी पड़ीद्वारा लिङ्गमूलको दबाकर मेरुदण्डको सीधा करके सुखसे बैठे, तब वह सिद्धासन होता है। यह आसन सर्वोत्तम है।

पद्मासन—क्लेशरहित होकर बैठते हुए दहिना पैर बायें उरूके ऊपर और बायाँ पैर दाहिने उरूके ऊपर रखकर जो सुगम आसन होता है। वह पद्मासन कहा जाता है।

स्वस्तिकासन—दोनों जानु और उरूके बीचमें दोनों चरणतल रख ऋजुकाय होकर, बैठनेका नाम स्वस्तिकासन है।

बद्धपद्मासन—दहिना पैर बायें उरूके ऊपर और बायां पैर दहिने उरूके ऊपर स्थापन करके, दोनों हाथोंको पीठसे घुमाकर चरणों के अंगूठे पकड़कर और चिबुक (ठोढ़ी) को वक्षःस्थलपर स्थापन करके नासिकाके अग्रभागको देखते रहनेसे बद्धपद्मासन हुआ करता है।

भद्रासन—दोनों गुल्फ (एड़ियां) वृषणके नीचे विपरीत भावसे स्थापन करके पीछेसे दोनों हाथ घुमाकर चरणोंका अंगूठा धारण करके जालन्धर-बन्ध करते हुए नासिकाके अग्रभागको देखनेसे भद्रासन हुआ करता है।

मुक्तासन—वाम गुल्फ (एड़ी) गुदामूलमें रखकर उसके ऊपर दक्षिण गुल्फ स्थापित करके शरीर, मस्तक और ग्रीवा समभावमें रखनेसे मुक्तासन होता है।

पश्चिमोत्तान आसन—दोनों पैरोंको पृथ्वी पर दंडेकी तरह सीधे फैलाकर दोनों हाथोंसे यत्नपूर्वक दोनों चरणोंको पकड़कर जङ्घाओंके बीचमें शिर रखनेसे पश्चिमोत्तान आसन होता है।

मयूरासन—हथेलीसे पृथ्वीका आश्रय करके दोनों केहुनीके ऊपर नाभिके दोनों पार्श्व स्थापन करके दोनों पैरोंको पीछेकी ओर उठाकर दंडवत् हो शून्यमें अवस्थित रहनेसे मयूरासन हुआ करता है। इस आसनके अभ्याससे अधिक भोजन भी पच जाता है। जठराग्नि बढ़ती है। गुल्म-ज्वर आदि अनेक व्याधियाँ नाश होती हैं। इससे विष-दोष तक भी नाश हो जाता है।

सात आवश्यक आसनोंकी विधि लिखी गयी है। विशेष जाननेवालोंको दूसरे प्रकारसे जानना चाहिये।

हठ-योगके तृतीय अङ्गका नाम मुद्रा है। जिन जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूपी साधनाङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, ऐसी सुकौशल-पूर्ण क्रियाओंको मुद्रा कहते हैं। मुद्राएँ पच्चीस हैं, जिनके नाम ये हैं—

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जालन्धरबंधमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, बज्रोलीमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, तड़ागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणामुद्रा, आश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा,

और भुजङ्गिनीमुद्रा। इनके साधनसे योगियोंको योगसिद्धि प्राप्त होती है।

इनमेंसे साधकोंके लिये विशेष-विशेष आवश्यक कुछ मुद्राओंका यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

महामुद्रा—वाम गुल्फ (एड़ी) को गुदामूलमें लगाकर और दक्षिण पैरको दंडकी तरह फैलाकर दोनों हाथोंसे पैरकी अंगुलियोंको पकड़कर कुम्भक करके कण्ठसंकोच करते हुए भ्रूके मध्य भागका दर्शन करे और तदनन्तर धीरे धीरे वायुका रेचन करे। गुरु-वाक्यानुसार जानुमें मस्तक रखकर दक्षिण गुल्फ और बाम पादके द्वारा पहिलेकी तरह करे और तदनन्तर दोनों पैरोंको दंडवत् फैलाकर ऐसा ही करे। इस प्रकार करनेसे महामुद्राका साधन होगा। यह सर्वरोगनाशक और योगमें सिद्धिप्रद है।

उड्डीयान-बन्ध-मुद्रा—उदरको पश्चिमतान युक्त करके नाभिको आकुंचित करनेसे उड्डीयान-बन्ध होता है। यह बन्ध मृत्युरूप मातङ्गके लिये सिंह-रूप है।

जालन्धर-बन्ध-मुद्रा—कण्ठ-देशको संकुचित करके हृदयपर चिबुक (ठोढ़ी) स्थापन करनेसे जालन्धर-बन्ध होता है। इसके द्वारा सोलह प्रकारके बन्धोंमें सहायता मिलती है।

मूल-बन्ध-मुद्रा—वाम गुल्फको गुह्य देशमें और दक्षिण गुल्फको लिङ्गमूलपर दृढ़बन्धके साथ रखकर नाभिग्रन्थिको संकुचित करते हुए मेरुदंडमें दबाकर गुह्य व लिङ्गमूलको आकुंचन करनेसे मूलबन्ध मुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरा-नाशिनी; वायु सिद्धिदायिनी, तथा मुक्तिदात्री है।

महाबन्ध-मुद्रा—वाम गुल्फके द्वारा गुदामूलको निरुद्ध करके दक्षिण गुल्फके द्वारा यत्नपूर्वक वाम गुल्फको दबाकर जालन्धरबन्धके द्वारा प्राण-वायुको धारण करके धीरे धीरे गुह्य देशको सञ्चालन और लिङ्गमूलको आकुंचित करनेसे महाबन्ध मुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरा-मरण नाशिनी और सर्वकामप्रदा है।

खेचरीमुद्रा—जिह्वाके नीचेकी नाड़ी छेदन करके जिह्वाकी चालना करनी चाहिये और नवनीतके द्वारा दोहन और लौह-यन्त्रके द्वारा आकर्षण करना चाहिये। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे जिह्वा लम्बी होजायगी और फिर वह दोनों भ्रुओंके बीच तक चली जायगी। उस समय जिह्वाको धीरे धीरे तालुके बीचमें प्रवेश कराकर वहां पर कपाल-कुहरमें विपरीतभावसे स्थापन करके भ्रूमध्यमें दृष्टि स्थापन करनेसे खेचरी मुद्राका साधन होता है।

खेचरी मुद्राके साधनके लिये जिह्वाको नियमित करना प्रथम और प्रधान कार्य है। आवश्यक होने-पर बिना छेदनके भी हो सकता है। यह कार्य जिह्वा-चालनरूप तालव्य क्रियासे भी हो सकता है। तालव्यक्रिया अति गुप्त और केवल योगिराज गुरुदेवके मुखसे ही सीखने योग्य है। योग-शास्त्रमें खेचरी-मुद्राके अपूर्व फलोंका वर्णन है। खेचरी-साधनसे मूर्छा, आलस्य, क्षुधा, तृषा, मृत्यु, भय आदि दूर होकर योगीको दिव्य देहकी प्राप्ति होती है। इस मुद्राके साधन करनेवालेको अग्नि नहीं जला सकती, वायु शुष्क नहीं कर सकता, जल गला नहीं सकता, सर्प दंशन नहीं कर सकता। इस मुद्रासे देह अपूर्व लावण्ययुक्त हो जाता है। इसकी सिद्धिसे समाधि-सिद्धि हुआ करती है। कपाल और मुखके सम्मेलनसे जिह्वामें अद्भुत रसोंकी उत्पत्ति होती है, जिसको खेचरी-साधक ही अनुभव कर सकते हैं। उनकी जिह्वामें यथा-क्रमसे लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा और अमृतरसका आस्वादन होता है, जिससे उनकी क्षुधाका नाश और अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

विपरीतकरणी-मुद्रा— नाभिमूलमें सूर्यनाड़ी और तालुमूलमें चन्द्रनाड़ी विद्यमान है।

सहस्रदल-कमलसे जो अमृत-धारा निकलती है, उसे नाभिस्थित सूर्यनाड़ी ग्रास कर लेती है। इसीलिये जीव मृत्यु-मुखमें पतित होता है। यदि सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा चन्द्रनाड़ीसे वह अमृतपान किया जाय तो योगीको कदापि मृत्युका भय नहीं हो सकता। इसलिये विपरीतकरणी-मुद्राके अभ्याससे योगीको उचित है कि सूर्यनाड़ीको ऊर्ध्वमें और चन्द्रनाड़ीको अधोभागमें लावे। यह मुद्रा बहुत गुप्त है। मस्तकको पृथ्वीपर स्थापन करके, करद्वयका आधार करते हुए दोनों पैरोंको ऊपरकी ओर उठाकर कुम्भकद्वारा वायु-निरोध करनेसे विपरीत-मुद्रा होती है।

शक्तिचालिनी-मुद्रा— परम देवता कुल-कुण्डलिनी-शक्ति साढ़े तीन फेरा लगाकर सर्पाकार हो, मूलाधार पद्ममें स्थित है। वह शक्ति जबतक निद्रिता रहती है, तबतक कोटि कोटि योग-क्रिया करनेसे भी जीवको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वह पशुवत् अज्ञानी ही रहता है। जिस तरह चाभीसे ताला खोलकर, दरवाजा खोला जाता है उसी तरह कुल-कुण्डलिनी-शक्तिके जगानेसे ब्रह्म-द्वार अपने आप ही खुल जाता है। इस प्रकार जीवको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वस्त्रसे नाभि-देशको वेष्टन करके गोपनीय गृहमें आसनपर स्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्राका अभ्यास करना उचित है, वितस्ति परिमित, चार अंगुल विस्तृत, सुकोमल, धवल, सूक्ष्म वस्त्र-द्वारा नाभिको वेष्टन करके उस वस्त्रको कटिसूत्र-द्वारा सम्बद्ध किया जाय। तत्पश्चात् भस्मद्वारा समस्त शरीर लेपनपूर्वक सिद्धासनमें बैठकर प्राण-वायुको नासिकाद्वारा आकर्षण करके बलपूर्वक अपान-वायुके साथ संयोग किया जाय। जबतक वायु सुषुम्नानाड़ीके भीतर जाकर प्रकाशित न हो, तबतक आश्विनी-मुद्राद्वारा गुह्य-देशको धीरे धीरे आकुञ्चित करना उचित है। इस तरह श्वास रोध करके कुम्भकद्वारा वायु निरोध करनेसे सर्पाकार कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर ऊपरकी ओर चलने लगती है और सहस्रदल-कमलमें पहुंचकर शिव-संयोगिनी हो जाती है। इस शक्ति-चालिनी मुद्राके बिना योनि-मुद्रामें पूर्ण सिद्धि नहीं होती। इस कारण पहले इस मुद्राका अभ्यास करके तदनन्तर योनि-मुद्राका साधन करना योग्य है। जो योगीजन इस मुद्राका प्रतिदिन अभ्यास करते हैं। अष्टसिद्धियां उनके करतलगत हो जाती हैं।

आश्विनी-मुद्रा— गुह्यद्वारको पुनः पुनः आकुञ्चन और प्रसारण करनेसे आश्विनी-मुद्राका साधन होता है। यह शक्ति-बोधनकारिणी मुद्रा है। इससे सर्वरोग-नाश और बल-पुष्टि होती है।

विशेष आवश्यक मुद्राओंका उल्लेख किया गया। वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि अन्यान्य मुद्राओंका लक्षण केवल योगिराज सद्गुरुके मुखसे ही जानना चाहिये। मुद्राओंके साधनसे योगमार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकोंको अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्राओंके अभ्याससे प्राणायामकी सिद्धिमें, प्रत्याहारमें, धारणामें, बिन्दुध्यानमें और अनेक प्रकारकी क्रियाओंमें विलक्षण सहायता प्राप्त होती है।

हठ-योगके चतुर्थ अङ्गका नाम प्रत्याहार है। षट्कर्म, आसन और मुद्राके साधनोंमें सिद्धि प्राप्त करके गुरु-आज्ञानुसार साधकको प्रत्याहारका साधन करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही प्रकृति-जय और कामादि शत्रुओंका नाश हो जायगा। जहां जहांपर दृष्टि जाती है, वहां-वहां मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहारद्वारा वहांसे मन हटाकर आत्मामें वशीभूत करे। शीत हो या उष्ण, मन स्पर्श-योगसे विषयमें सम्बद्ध होता है। इस लिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें संयत करे। सुगन्ध हो अथवा दुर्गन्ध, मन घ्राणेन्द्रियके योगसे उस विषयमें बद्ध होता है इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें एकाग्र करे। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त आदि रसोंमें रसनेन्द्रियकी सहायतासे

मन जाता रहता है, इसलिये वहांसे मनको हटाकर आत्मामें स्थिर करे।

इस तरह जब योगी बहिर्जगत्की आसक्ति तोड़कर अन्तर्जगत्में प्रवेश करनेमें समर्थ होने लगता है, तभी प्रत्याहारकी सिद्धि उत्पन्न होती है। इसीलिये प्रत्याहारके साधनसे आध्यात्मिक धैर्य उत्पन्न होता है और इसी समयसे योगीको दैवी-सिद्धियोंके प्राप्त करनेकी सम्भावना रहती है।

योगियोंको प्राप्त होनेवाली सिद्धियां चार प्रकारकी होती हैं—आध्यात्मिक-सिद्धि, आधिदैव-सिद्धि, अधिभूत-सिद्धि, और सहज-सिद्धि। स्थूल पदार्थोंकी प्राप्तिको आधिभौतिक-सिद्धि कहते हैं। दैवीशक्तियोंकी प्राप्ति अधिदैव-सिद्धि है, प्रज्ञासे युक्त सिद्धियाँ आध्यात्मिक हैं, यह अधिकार बहुत ऊँचा है और जीवन्मुक्त महात्माओंको जगत्कल्याण-साधनके लिये जो सिद्धियां स्वतः प्राप्त हो जाती हैं, उनका नाम सहज-सिद्धि हैं। प्रतिभा, श्रवण, वेदना, दर्शना, आस्वादा और वार्ता ये सिद्धियोंके भेद हैं। जिसे विचारद्वारा वेद्य वस्तुका ज्ञान हो उसे बुद्धि कहते हैं, परन्तु प्रतिभा उस बुद्धिको कहते हैं कि जिसके द्वारा बिना विचार किये दर्शनमात्रसे ही वेद्य वस्तुका परिज्ञान हो जाय। सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, विप्रकृष्ट, और भविष्यद् वस्तुका ज्ञान प्रतिभासे होता है।

समस्त वस्तुओंके अनायास स्पर्श-ज्ञानका नाम वेदना है। अनायास दिव्यरूपोंके दर्शनोंका नाम दर्शना है। बिना प्रयत्नके जब दिव्यरसोंका आस्वादन होने लगे तब उसे अस्वादा कहते हैं और जब दिव्य गन्धोंका अनुभव योगीको होने लग जाय तब उसे वार्ता कहते हैं। इस अवस्थामें योगीको सारे ब्रह्माण्डका ज्ञान हो जाता है।

संयमके द्वारा समाधिविषयिणी बुद्धिका उदय होता है। संयम-शक्तिकी वृद्धिद्वारा योगी, जो चाहे सो कर सकता है। कहां कहां संयम करनेसे कौन कौनसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यह बात योगिराज गुरुदेवसे जाननेयोग्य है।

संयम-शक्ति समाधि-भूमिमें प्राप्त होती है परन्तु अन्यान्य शक्तियां पहलेकी भूमिमें भी प्राप्त हो सकती हैं। हठयोगियोंमें तपःप्रधान शक्तिकी प्रधानता है, वह प्रत्याहार-भूमिमें भी प्राप्त हो सकती है।

सिद्धियां सुखकर होनेपर भी सर्वथा निन्दनीय और हेय हैं। आत्मोन्नतिके इच्छुक योगीपुरुष वैराग्यकी सहायतासे उनमें कभी विमोहित न हों। ऐसा ही योगानुशासन है। क्योंकि भौतिक जगत्की सोना-चांदी आदि स्थूल सम्पत्तियोंकी तरह सिद्धियां भी सूक्ष्म जगत्की सम्पत्ति-विशेष हैं। इनमें फँस जानेपर विषय-बद्ध जीवोंकी भाँति सिद्धिरूप सूक्ष्म-विषय-बद्ध योगी भी परमात्माके राज्यमें अग्रसर नहीं हो सकते। उनकी समस्त उन्नतियोंका पथ रुक जाता है और उनके पतनकी सम्भावना हो जाती है। इसीलिये पतञ्जलिजीने कहा है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

हठ-योगके पञ्चम अङ्गका नाम प्राणायाम है। प्राण ही महाशक्ति हैं, प्राण ही जगत्के रक्षक हैं, प्राणके वशीभूत करनेसे सब कुछ जय होजाता है। स्थूल-सूक्ष्म-भेदसे प्राणके दो भेद हैं। प्राण-जय करनेवाली क्रियाको प्राणायाम कहते हैं। मन्त्र-योगमें प्राण-जय क्रिया धारणाप्रधान है। हठ-योगमें वायुप्रधान है, लययोगमें सूक्ष्म प्राणजय क्रिया मनःप्रधान है। वायुप्रधान प्राणजय क्रिया ही सर्वहितकर है।

अब प्राणायामका वर्णन किया जाता है—

प्राणायाम-साधनके लिये चार बातोंकी आवश्यकता है। प्रथम उपयुक्त स्थान, द्वितीय नियमित समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ीशुद्धि।

हठ-योगमें प्राणायाम आठ प्रकारके बतलाये

गये हैं। उनमेंसे विशेष आवश्यक विधियोंका यहां वर्णन किया जाता है।

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्ट कुम्भकाः॥

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली, ये आठ प्राणायाम हैं।

सहित प्राणायाम दो प्रकारका होता है, एक सगर्भ, दूसरा निगर्भ। जो प्राणायाम बीजमन्त्रसहित किया जाय वह सगर्भ और जो विना बीजमन्त्रके किया जाय वह निगर्भ कहलाता है। सगर्भ प्राणायामकी विधि यह है कि पूर्व या उत्तर दिशामें मुख करके सुखकर आसनपर बैठकर ब्रह्माका ध्यान करे, वह रक्तवर्ण अकाररूपी रजोरूप हैं। तत्पश्चात् 'अं' इस बीजमन्त्रको षोडश बार जप करते हुए वाम-नासिकासे वायु-पूरक करे, कुम्भक करनेके पहले और पूरक करनेके पीछे उड्डीयान-बन्ध-मुद्राका आचरण करना उचित है। तदनन्तर सत्त्वगुण उकाररूपी कृष्णवर्ण विष्णुके ध्यानपूवक 'उं' बीजको चौसठवार जप करते हुए कुम्भकद्वारा वायुको धारण करना उचित है। तत्पश्चात् तमोगुण मकाररूपी श्वेत वर्ण शिवके ध्यानपूर्वक 'मं' बीजको बत्तीस बार जप करते हुए दक्षिण-नासिकाद्वारा वायुरेचन किया जाय। फिर ऊपर लिखी हुई रीतिसे बीज-मन्त्रके जपद्वारा पुनः दक्षिण-नासिकासे पूरक करके कुम्भक करके फिर वाम-नासिकासे रेचन किया जाय। इसप्रकार तीन आवृत्तिमें एक प्राणायाम होता है। इसी रीतिपर अनुलोम-विलोमद्वारा पुनः पुनः प्राणायाम करना चाहिये।

जो प्राणायाम बीजमन्त्रका जप किये बिना किया जाता है वह निगर्भ है। पूरक, कुम्भक, रेचक इन तीनों अङ्गोंसे समन्वित सहित प्राणायामका क्रम एक संख्यासे लेकर शत (सौ) संख्या पर्यन्त किया जा सकता है। ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों संख्या बढ़ानी चाहिये।

मात्राके अनुसार प्राणायाम-साधनके तीन भेद हैं। बीस मात्रा साधन, सोलह मात्रा साधन और बारह मात्रा साधन। क्रमसे ये उत्तम, मध्यम और अधम हैं। अधम-मात्राकी सिद्धिमें शरीरमें पसीना होता, मध्यम-मात्राकी सिद्धिमें मेरुदण्ड-कम्पन और उत्तम-मात्रामें भूमि त्यागकर शून्य मार्गमें उत्थान होता है।

प्राणायाम-साधनसे खेचरत्व-प्राप्ति, आकाशमें उत्थान, सब रोगोंका नाश, शक्ति-बोधन, मनोन्मनी और चित्तमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

शीतली प्राणायाम—जिह्वाद्वारा वायु आकर्षण-पूर्वक धीरे धीरे उदरमें पूर्ण करके थोड़ी देर कुम्भक-करके नासिकाद्वारा रेचन कर देवे, यही शीतली प्राणायाम है।

भ्रामरी प्राणायाम—अर्ध रात्रि बीत जानेके बाद जीव-जन्तुओंके शब्दसे वर्जित स्थानपर योगी हाथोंसे कानोंको बन्दकर पूरक और कुम्भकका अनुष्ठान करें। इस तरह कुम्भकके द्वारा साधकके दक्षिण कर्णमें शरीरके भीतरसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके शब्द सुनायी देते हैं। प्रथम झिल्ली-रव तदनन्तर वंशी-रव, तदनन्तर क्रमशः मेघध्वनि झर्झरि-वाद्य-ध्वनि और भ्रमर-गुनगुन-ध्वनि, सुनायी देती है। पश्चात् घण्टा, कांस्य, तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक और दुन्दुभि आदि शब्द श्रुतिगोचर होते हैं। इस प्रकार अभ्यास करनेसे निश्चयं ही नानाविध शब्द सुनायी देते हैं और पीछेसे अनाहत शब्दकी प्रतिध्वनि सुननेमें आती है। तत्पश्चात् साधक ध्वनिके अन्तर्गत ज्योति और ज्योतिके अन्तर्गत परब्रह्ममें मनको लय करता हुआ परमपदमें लीन कर देता है। इस तरह भ्रामरी सिद्धिद्वारा समाधिलाभ होता है।

केवली प्राणायाम—भुजङ्गिनीके श्वाससे अर्थात् कुंडलिनी-शक्तिके प्रभावसे जीव सदा अजपा जप करता है। जिसमें श्वास निकलते समय 'हं' और प्रवेश करते समय 'सः' मन्त्र उच्चारण होकर अजपा जप होता है। 'हंसः' अर्थात् सोऽहं नामक अजपा गायत्रीका जप जीव दिनरातमें २१६०० बार करता

रहता है। मूलाधारपद्म, हृदयपद्म और नासापुट-द्वय द्वारा यह जप हुआ करता है। यह कर्मायतन शरीर ९६ अंगुल परिमित है। देहसे बहिर्गत वायुकी स्वाभाविक गति १२ अंगुल है। गायनमें १६ अंगुल, भोजनमें २० अंगुल, रास्ता चलनेमें २४ अंगुल, निद्रामें ३० अंगुल और मैथुनमें ३६ अंगुल श्वासकी गति होती है, व्यायाममें इससे भी अधिक होती हैं।

इस स्वाभाविक गतिके ह्रास होनेसे आयुकी वृद्धि और स्वाभाविक गति बढ़ जानेसे आयुका ह्रास होता है। जबतक शरीरके भीतर प्राण स्थिर रहता है तबतक मृत्यु नहीं होती। जीव देह धारण करके जबतक जीवित रहता है तबतक परिमित संख्याके अनुसार अजपा जप करता रहता है। देहमें प्राणवायुका धारण करना ही केवली-कुम्भक है। केवली-कुम्भक-साधन जितना अधिक होता है उतना ही मनकी लयावस्था हुआ करती है। नासा-पुटद्वारा वायु आकर्षणपूर्वक केवली-कुम्भक किया जाता है। केवलीकी क्रिया सहज कहाती है क्योंकि उसमें पूरक रेचकका कोई क्रम नहीं है। और न कुम्भककी कठिनता है। प्राणपर कुछ आधिपत्य हो जानेसे श्रीगुरु-उपदेशद्वारा इसकी क्रिया प्राप्त होती है। प्रथम अवस्थामें प्राणवायुको नियमित करके प्राणकी क्रिया संयमित करनी पड़ती है और इसकी उन्नत अवस्थामें स्वतः ही इसका साधन होता है। इन्द्रिय-विषयोंसे मनको हटाकर भ्रू-युगलके बीचमें मनको स्थापन करके अपान और प्राण दोनोंकी गति रुद्ध करनेसे केवली-प्राणायामकी क्रिया होती है, केवली-प्राणायाम समाधिप्रद और त्रितापनाशक है, इसकी सिद्धिमें योगीको कुछ भी अभाव नहीं रहता।

हठ-योगमें प्राणायामको सर्वोत्कृष्ट साधन माना गया है, प्राणायाम-सिद्धिद्वारा प्राणजय होकर मनोवृत्तिका निग्रह शीघ्र हो जाता है।

हठ-योगके षष्ठ अङ्गका नाम ध्यान है। मन्त्र-योगोक्त स्थूल ध्यानके भेद पञ्चोपासनाके अनुसार अनेक हैं। किन्तु हठ-योगके ज्योतिर्ध्यानकी शैली एक ही है, केवल ध्यान-स्थान, साधकके अधिकार भेदसे तीन हैं। दीपकलिकावत् तेजोमय ब्रह्म-ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। वह प्रकृति ध्यान भी है और ब्रह्म-ध्यान भी है क्योंकि मैं मेराके सदृश ब्रह्म और प्रकृतिमें अभेद है। ब्रह्मके तेजोमयरूप-कल्पनाद्वारा ज्योतिर्ध्यानकी विधि गुरुदेवसे प्राप्त करने योग्य है। नाभि, हृदय और भ्रू-युगल ये तीनों स्थान ज्योतिर्ध्यानके लिये निर्दिष्ट हैं। ज्योतिर्ध्यानकी सिद्धावस्थामें आत्माका प्रत्यक्ष होता है।

हठ-योगके अन्तिम सप्तम अङ्गका नाम समाधि है। हठ-योगकी समाधिको महाबोध कहते हैं। प्राणायाम-सिद्धिके द्वारा वायु जय हो जानेपर कुम्भक करनेकी पूर्ण शक्ति प्राप्त होनेसे हठ-योग-समाधिकी प्राप्ति होती है। प्राणायाम-ध्यानकी सिद्धिके साथ ही समाधि-दशाका उदय होता है। समाधि ही योग-साधनका परम फल है। शरीरसे मनको पृथक करके उसका लय करते हुए स्वरूपोपलब्धिका नाम समाधि है। समाधि-दशामें मनका लय हो जाता है और मैं ही अद्वितीय ब्रह्म सच्चिदानन्द नित्यमुक्त हूँ, ऐसा अनुभव होता है। यही हठ-योगकी समाधि और अन्तिम साधन है। श्रीगुरुदेवकी आज्ञानुसार इसे जानकर साधन करनेसे साधक समाधि-सिद्धि लाभ करके दुस्तर भव-सिन्धुको पार कर जाते हैं।*

---

* इस लेखको पढ़कर ही किसीको हठ-योगके अभ्यासमें नहीं लग जाना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हठ-योगसे अनेक प्रकारके शारीरिक लाभ, विविध सिद्धियोंकी प्राप्ति और सिद्धियोंमें न फँसकर साधनमें प्रवृत्त रहनेसे शेषमें ज्ञानोदयपूर्वक परम ब्रह्मकी उपलब्धि हो सकती है। परन्तु यह साधन सद्गुरुसे जानकर गुरुदेवकी सन्निधिमें ही करना उचित है। उपयुक्त सद्गुरु-की खोजकर उनकी आज्ञानुसार ही इसमें लगना चाहिये। —सम्पादक

छिप जाओ इस तिमिराच्छन्न हृदयमें

(लेखक—श्रीचेलालालजी शास्त्री 'हिन्दी-प्रभाकर')

अतीत यामिनीके अन्तिम प्रहरमें मैंने एक अलौकिक स्वप्न देखा, मानो घनघोर घटासे घिरी हुई काली रात है। चारों ओर भयावना जङ्गल है। सिंह दहाड़ रहे हैं। गजराज चिग्घाड़ रहे हैं। ऊपरसे मेघोंके झुण्डके झुण्ड कर्ण-कन्दराओंको विदीर्ण करते हुए गम्भीर गर्जना कर रहे हैं। अनन्त अन्धकारके अन्दर बिजलीकी चकाचौंध और भी अँधियारा फैला रही है। मूसलधार वृष्टि हो रही है। यद्यपि सौरभ सरसानेवाला सदा सुखद सुन्दर समीर संचरण नहीं कर रहा है, तथापि चिरकालीन भीष्म ग्रीष्मके अनन्तर आज शीतल जलका अनवरत वर्षण ही विशेष आनन्द प्रदान कर रहा है। आबाल-वृद्ध-वनिता, जलचर, थलचर, खेचर सभी जगज्जीव आनन्दोल्लासमें उल्लसित हो रहे हैं। इतनेमें मेघमाला अन्तर्हित हो गयी। भगवान् शर्वरीश्वर तिमिरस्तोमको निरस्त कर समस्त वसुधातलको सुधा-धारा-प्रवाहिनी लोक-लोचनानन्द-दायिनी अपनी चारु-चन्द्रिकासे सींचने लगे। अकस्मात् कुतूहल-वर्धक विस्मयोत्पादक मनो-मुग्धकर अतर्कित रमणी-कण्ठ-निःसृत मधुर शब्द सुनायी दिया 'पकड़ो'! 'पकड़ो'!! साथ ही किसी भयपीड़ितका-सा करुण क्रन्दन भी कानोंमें प्रवेश कर गया। आश्चर्यान्वित होकर मैंने मनमें विचार किया, इस नीरव निशामें, शून्य निर्जन वनमें अनवसर यह क्या रहस्य है? मैं हतबुद्धि-सा होकर, मानव-स्वभाव-सुलभ भीरुता-पूरित सचकित निमिष-हीन नेत्रोंसे रजनी-रमण-की रमणीय प्रभामें इधर उधर निहारने लगा। आश्चर्य! यह तो मोरमुकुटधारी वृन्दावन-विहारी गोकुलानन्दकारी भक्त-भय-हारी गोपाङ्गना-मध्य-चारी श्रीकृष्णमुरारी ही विद्युद्वेगसे व्याकुल हुए-से दौड़ते चले आ रहे हैं। आप मेरे सम्मुख आकर कहने लगे "प्रशस्य! वयस्य! शीघ्र बताओ? यहाँ कोई मेरे लिये छिपने योग्य स्थान है? देखो! देखो! शीतातपादि क्लेशोंको भूलकर लोक-परलोकको तिलांजलि दे प्रेमोन्मत्ता गोपाङ्गनाएँ मुझे पकड़ने-को दौड़ी चली आ रही हैं।" इस श्रुति-सुखद भव्य-भाव-विभूषित लोकोत्तरानन्द-पूरित मनोहर वाक्य-विन्यासको सुनकर मैं पुलकित हो उठा,मेरे मुखसे सहसा निकल पड़ा 'नटनागर! नवनेह-सागर! भय क्या है? मेरे इस अखिल कलि-कल्मषौघ-परिपूर्ण, अज्ञान-घन-तिमिराच्छन्न मानसागारमें शीघ्र प्रवेश कर जाओ, गोपियोंके भयसे तुरन्त ही छूट जाओगे, फिर तीन लोक और चौदह भुवनोंमें अनवरत अन्वेषण करनेपर भी तुम्हारा सहसा कहीं पता नहीं चलेगा!!

जीवनधन!

आओ हे मेरे जीवनधन! अब क्यों व्यर्थ सताते हो?
कर शरीरका ह्रास भास दे, दीनानाथ! रुलाते हो॥
हम जैसे कवियोंको ही क्या निज महिमा दिखलाते हो।
हमसे सहृदय लोगोंसे यों क्या गुणगान कराते हो?
इसी त्रासके बूतेपर क्या मुझे बनाया अपना दास?
तुम विश्वास छुड़ाते हो यों, कैसे कर लूँ मैं विश्वास॥

अवन्तविहारी माथुर "अवन्त"

हमारे नवरात्र और श्रीदेवीमाहात्म्य

(लेखक—साहित्योपाध्याय पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्री काव्यतीर्थ एम० ए०, एम० ओ० एल, एम० आर० ए० एस)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

सप्तम अध्यायके आदिमें ही अम्बिकाका दर्शन होता है। चण्ड और मुण्डके अनुयायी असंख्य राक्षस युद्ध करनेको आते हैं। अम्बिकाका मुख क्रोधके कारण कृष्ण-वर्ण हो जाता है और तत्काल ही उनके ललाटसे श्रीकालीजीका उत्थान होता है। यहां कालीका विकट रूप दिखाया है। काली करालवदना, हाथमें तलवार और पाश लिये, विचित्र माल्य और ऐसे विचित्र वस्त्र धारण किये हैं, जैसे आजतक कहीं देखने-सुननेमें नहीं आये। नर-कपालोंकी मालाएं गलेमें पड़ी हैं, जिह्वा बाहर लटक रही है जो प्रलयकालीन अग्निके तुल्य दानव-दलनके लिये लपलपा रही है। कालीजी युद्ध करती हैं। अश्वों, गजेन्द्रों सहित ही रथी और महारथी दानवोंके दुर्दान्त दलोंको समग्र ही दाँतोंसे कुचल कुचलकर चूर्णितकर उनका नामशेष कर रही हैं। दानवोंकी कोई कला, उनका कोई पराक्रम, कोई अस्त्रशस्त्र यहां काम नहीं आता। वह देखिये, क्षण भरमें ही श्रीकालिकाजीने चण्ड-मुण्ड दोनोंके शिर तीक्ष्ण खड्गसे काट डाले और उनको हाथोंमें उठाकर श्रीअम्बिकाजीके पास जाकर कहा:—

मया तवात्रोपहृतौ चण्डमुण्डौ महापशू।
युद्धक्षेत्रे स्वयं शुम्भं निशुम्भं च हनिष्यसि॥

मैंने इस युद्ध-महायज्ञमें चण्ड-मुण्डरूप महापशु तुम्हें भेट किये हैं। अब इस युद्धक्षेत्रमें तुम स्वयं ही शुम्भ और निशुम्भका संहार करोगी। श्रीअम्बिकाजीने भी उनके पराक्रमकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर उन्हें अनेक साधुवाद देते हुए कहा:—

यस्माच्चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यसि॥

तुम चण्ड-मुण्डको लेकर मेरे पास पधारी हो। इसीलिये संसारमें चामुण्डा देवीके नामसे ख्यात होओगी। इस प्रकार यह अध्याय समाप्त होता है।

अष्टमाध्याय

दक्षिण-वाम भुजाओंके तुल्य सहायक प्रबल प्रतापशाली चण्ड-मुण्ड सेनापतियोंके नाशका समाचार सुनकर, शुम्भ-निशुम्भने अति क्रोधोन्मत्त होकर आदेश किया कि सम्पूर्ण राक्षससैन्य सम्मिलित होकर अम्बिकापर चढ़ाई करे। आदेश होते ही युद्धसूचक भेरियां बजने लगीं। दैत्योंके लाखों योद्धाओंके उत्ताल सागरसदृश सैन्यको सम्मुख आते देख श्रीचण्डिकाजीने धनुषकी प्रत्यञ्चा खींची। प्रत्यञ्चाका आकर्षण करते ही ऐसा घोर शब्द हुआ कि समस्त लोकोंके हृदय हिल गये! इधर उनका वाहन सिंह भी लगा लोमहर्षण गर्जनाएं करने। घण्टाका घनघोर नाद तो हो ही रहा था, आकाशसे पातालतक समस्त लोक गूँज उठे। राक्षसोंने देवी और उनके वाहनको चारों ओरसे वैसे ही घेर लिया जैसे सूर्य अथवा चन्द्रको परिवेष घेर लेता है।

श्रीचण्डिकाजीको इस प्रकार दानवदलसे चतुर्दिक् परिवेष्टित पाकर उनकी सहायताके लिये देवताओंकी शक्तियां प्रादुर्भूत हुईं। जिस देवताका जैसा स्वरूप है, तदनुरूप ही उसकी शक्ति प्रकट होकर चण्डिकाकी सहायतार्थ आ पहुंची।

यस्य देवस्य या शक्तिर्यथा भूषणवाहनम् ।
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥
हंसयुक्तविमानस्था साक्षसूत्रकमण्डलुः ।
आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणीत्यभिधीयते ॥

जिस देवताकी जो शक्ति थी और जैसे भूषण-वाहन थे, उन्हींसे भूषित होकर शक्तियां असुरोंसे लोहा लेनेके लिये आयीं। सबसे पहले ब्रह्माणी पधारीं। उनका विमान हंसोंसे युक्त था। हाथमें जपमाला और कमण्डलु थे।

तब श्रीशङ्करने कहा कि मुझे प्रसन्न करनेके लिये असुरोंको शीघ्र मारिये। इसपर श्रीअम्बिकाजीके कलेवरसे एक अति भीषण शक्ति प्रकट हुई। उस महादेवीका शब्द ऐसा भीषण था जैसे सैकड़ों शृगालियोंका एक साथ अमङ्गल महानिनाद हो रहा हो। इस शब्दको सुनकर दानवोंके अन्तरात्मा प्रव्यथित हो उठे। भयेन च प्रव्यथितान्तरात्मा।

श्रीचण्डिका जगज्जननीने श्रीशङ्करसे कहाः—

'दूतत्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः'

'आप मेरे दूत बनकर शुम्भ निशुम्भके समीप पधारिये, उनसे कहिये कि इन्द्रको त्रैलोक्य दे दें। देवताओंको पुनः उनका हविः प्राप्त होने दें और यदि उन्हें अपने प्राण प्रिय लगते हों तो शीघ्र पाताल-लोकमें जाकर वहां छिपकर प्राणरक्षा करें।

साक्षात् श्रीशिवशङ्करको दूत बनानेके कारण श्रीअम्बिकाजीका नाम 'शिवदूती' पड़ा।

राक्षस क्यों सुनने लगे थे, उन्होंने एकबारगी ही समस्त अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करना आरम्भ कर दिया। श्रीदेवीजीने भी लीलासे ही खेल ही खेलमें दानवप्रयुक्त शस्त्रास्त्र-समूहका संहार कर डाला। सारी शक्तियोंने भी विलक्षण संहार करना आरम्भ किया। दानवोंके पैर उखड़ पड़े। इसी समय रक्त-बीज नामका महाप्रतापी असुर क्रोधमें भरकर श्रीदुर्गाजीसे युद्ध करने आया। उसके शरीरसे जितने रक्तके बिन्दु गिरते थे, उतने ही उसीके समान प्रतापी राक्षस उत्पन्न हो जाते थे। वे भी युद्ध करते थे, श्रीदेवीजीने जब वज्रसे उस राक्षसका शिर काट डाला तो उसके रक्तके स्थूल-प्रवाहसे एक साथ ही लक्षावधि दानवोंकी सृष्टि हो गयी। दानवोंकी इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर देवगण भयभीत होने लगे। उन सबके मन अत्यन्त खिन्न हो गये। उन्हें खिन्न-मनस्क होते देखकर श्रीचण्डिकाने कालिका देवीसे कहा—

'हे देवि! तुम शीघ्र अपना गिरि-गह्वरोपम मुख खोलो, मेरे शस्त्रोंसे निकले हुए रक्तबीजके रक्तजन्य असंख्य असुरोंके संहारकी मुझे एक युक्ति सूझी है। तुम उसीमें मेरी सहायता करो। रक्तबीज-के रक्तकी एक भी बूँद भूतलपर न गिरने पावे। सावधान! ऐसा करनेसे नवीन राक्षसोंकी उत्पत्ति न होने पावेगी। जो विद्यमान हैं, उन्हें तुम अपना अन्न बनाती हुई चाट जाओ।'

इस युक्तिसे रक्तबीजका थोड़ी ही देरमें नाश हो गया। शरीरमें रक्त न रहनेसे वह निश्चेष्ट होकर कटे हुए वृक्षकी भांति धरातलपर धम्मसे गिर पड़ा।

तब सब देवगण अत्यन्त हर्षित हुए। देवीके जयनादसे दशों दिशाएं गूंज उठीं।

नवमाध्याय

शुम्भ तथा निशुम्भ रक्तबीजका संहार सुनकर क्रोधसे आगबबूला हो गये। वे अपनी अगणित सेना लेकर चण्डिकाके ऊपर चतुर्दिक्से शर-वर्षा करने लगे। मानों दो प्रधान पर्जन्य किसी पर्वत-मालापर उमड़-घुमड़कर घनघोर वृष्टि कर रहे हों। चण्डिकाने शुम्भके कृपाणके दो टूक कर दिये और उसकी ढालको भी काट डाला! दोनों ओरसे भीषण युद्ध होने लगा। अन्तमें श्रीअम्बिकाने सामने आते हुए निशुम्भकी छातीमें शूल मारा। उसकी छातीसे एक भयङ्कर-मूर्ति दानव 'ठहर तो'! ऐसा कहता हुआ निकला। देवीने उसका शिर

तलवारसे काटकर उसे धराशायी कर दिया। अब अन्य मातृशक्तियोंने भी भीषण युद्ध करना आरम्भ किया। क्षणभरमें असुरोंके शवोंसे रण-क्षेत्र पट गया। इस प्रकार निशुम्भका भी काम-तमाम हुआ।

दशमाध्याय

अब शुम्भ क्रुद्ध होकर चण्डिकाके सम्मुख आया और माताको सम्बोधन करके इस प्रकार कहने लगा—

'बलावलेपाद्दुष्टे त्वं मा दुर्गे गर्वमावह।
अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे यातिमानिनी॥'

'हे दुर्गे! तू अपने बलका अभिमान न कर। तू तो दूसरोंके बलका आश्रय लेकर लड़ती है।'

देवीने उत्तर दिया। 'मूढ़, मेरे अतिरिक्त अन्य शक्ति जगत्में है ही कौनसी? देख, ये सब मातृ-शक्तियां अभी मेरे शरीरमें लीन होती हैं।' यों कहते ही सारी मातृशक्तियां अपने केन्द्रीभूत दुर्गाके देहमें तत्काल लीन हो गयीं और एकाकिनी दुर्गाने ही शुम्भको समरके लिये ललकारा। दोनोंका अत्यन्त विस्मयकारक युद्ध होने लगा। अन्तमें देवीने उसके हृदयमें हथेलीसे एक ऐसा धक्का दिया कि दैत्य तुरन्त चकराकर गिर पड़ा। फिर सँभलकर उठा और चण्डिकाको उठाकर अन्तरिक्षमें ले उड़ा और लगा वहां घोर युद्ध करने। वहां भी श्रीभगवती उसके दांत खट्टे करती रहीं। तदनन्तर श्रीदेवीने उसे नीचे पटक दिया। फिर उठकर वह माताकी ओर घूसा तानकर बढ़ा, तब माताने शूलसे उसकी छातीको छेदकर उसे गिरा दिया। शुम्भके मरते ही संसारमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो गया। देवगण प्रसन्न हुए। मनुष्योंको सुख हुआ।

एकादशाध्याय

इस अध्यायमें इन्द्रसहित देवगण माताकी स्तुति करते हैं। यह स्तोत्र भक्तजनोंके लिये प्रतिदिन पठन करने योग्य है।

प्रथम श्लोक यह है:—

'देवि प्रपन्नार्त्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥'

'प्रसन्न हो! हे अखिल जगज्जननी! प्रसन्न हो! हे विश्वस्वामिनि! प्रसन्न हो और विश्वका पालन कर। तू ही चराचरकी स्वामिनी है।'

इसी प्रकार अन्य श्लोक भी अत्यन्त भाव-निर्भर हैं। देवीकी भूमि, जल, वैष्णवीशक्ति, विद्या, स्त्री आदि समस्त प्रशस्त रूपोंसे स्तुति की गयी है। बुद्धि, परिणामप्रदायिनी कालकी मूर्ति, माया (वेदान्त-प्रतिपादित) सभी रूपोंका मञ्जुल निरूपण है। ब्रह्माणी, नारायणी, कौमारी, ऐन्द्री, वैष्णवी आदि समग्र देवशक्तियोंके रूपमें स्तुति करके पुनः मानवहृदयमें स्थित, लज्जा, तुष्टि, धृति, मति, श्री, कीर्त्ति आदि गुणोंकी मूर्त्तियोंका आधाररूप बतलाते हुए भी अत्यन्त अद्भुत अलङ्कारपूर्ण वर्णन है। वेदान्तकथित मायाके स्वरूपको समझनेमें यह अध्याय एक अभ्रान्त पथप्रदर्शकका काम देता है। इसे एक स्पष्ट भाष्य ही कहना चाहिये, जिसमें अनिर्वचनीय मायाका निर्वचन-सा करके इस गभीर विषयको हस्तामल-कवत् स्फुट करके दिखा दिया है।

दिव्य स्तुतियोंसे प्रसन्न होकर भगवतीने देवताओंसे 'वरं ब्रूत' 'वर मांगो' ऐसा कहा, देवगणने यह वर मांगा—

'सर्वबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम्॥'

'हे देवि! तुम इसी प्रकार हमारे वैरियोंका विनाशकर संसारकी बाधाओंको हरण करती रहो।'

श्रीभगवतीने 'तथास्तु' कहा और स्पष्टरूपमें देवगणसे प्रतिज्ञा करते हुए बतलाया कि भविष्यत्में

किन किन नामोंको ग्रहण करके वे किन किन दानवोंका संहार करके भूभार उतारेंगी।

द्वादशाध्याय

इसमें देवीने अपने चरित्रोंके श्रवण-कीर्तनका महाफल वर्णन किया है। ब्रह्मदेव, इन्द्रादि देवगण और ब्रह्मर्षियोंद्वारा जो स्तुतियां समय समयपर इस ग्रन्थ-रत्नमें की गयी हैं, उन सबका माहात्म्य 'न भूतो न भविष्यति' है। कोई बाधा, कोई विषम सङ्कट ऐसा नहीं जो इन स्तोत्रपाठों तथा पूजनादिसे निवृत्त न हो जाय। जायते निर्भयः पुमान्। रिपवः संक्षयं यान्ति। नन्दते च कुलं पुंसां माहात्म्यं मम शृण्वताम्। ऐसे वचन भरे पड़े हैं।

त्रयोदशाध्याय

आश्रमवासी ऋषिने सुरथ राजा तथा समाधि नामक वैश्यको श्रीदेवीजीके इस अद्भुत माहात्म्यको सुनाकर कहा कि हे राजन्! तथा हे वैश्यवर्य! तुम लोग भी स्वाभीष्टकी सिद्धिके लिये इन्हीं भगवतीकी आराधना करो! यह निस्सन्देह तुम्हारी इच्छाओंको पूर्ण करेंगी। यह वचन सुनकर वे दोनों तपस्याद्वारा दुर्गाजीकी आराधना करनेके लिये चल दिये। एक नदीके तटपर मृत्तिकाकी मूर्ति बनाकर, नियमित भोजन करते हुए बड़े भक्तिभावसे तीन वर्षोंतक दोनोंने भगवतीकी आराधना की और उनसे अभीष्ट वर प्राप्त किया। राजाने अन्य जन्ममें भ्रष्ट न होनेवाला राज्य और वैश्यवर्यने तत्त्वज्ञानकी याचना की। दोनोंकी प्रार्थना देवीने स्वीकार की और यही राजा सुरथ अगले जन्ममें सूर्यनारायणसे जन्म पाकर सावर्णि नामक मनु प्रसिद्ध हुए।

उपसंहार

इस प्रकार दुर्गासप्तशतीके तेरह अध्यायोंकी समाप्ति होती है। तर्ककी दृष्टिसे भगवान्‌की आदि-शक्ति कोई अवश्य होनी चाहिये, क्योंकि शक्तिके बिना कोई शक्तिमान हो नहीं सकता, यदि हो भी तो वह कुछ कर नहीं सकता क्योंकि शक्तिसे ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। पूज्यपाद भगवच्छङ्कराचार्यजीने भी कहा है कि 'ब्रह्म मायाके बिना जगत्-रचनामें समर्थ नहीं है। वह शक्ति एक विचित्र शक्ति है। उस एकहीमें असंख्य शक्तियोंका समावेश है। उसीका रूप शास्त्रकारोंने मन्द अधिकारियोंकी समझमें लानेके लिये उत्तमतासे बांधा है। राक्षस उस शक्तिके पुञ्जोंका नाम है जो जगत्‌की ईश्वरीय मर्यादाओंके विरुद्ध हैं। इसके रहे बिना भी जगत्‌की सत्ता असम्भव है। इस आसुरी सत्ताको दबानेके लिये दैवी सत्ता सदा प्रयत्न करती रहती है। क्योंकि जगत्‌में आसुरी सत्ता हो भले ही परन्तु अधिक प्रभाव दैवी सत्ताकी ही व्याप्त दीखता है। इन दोनों सत्ताओंके संघर्षणका ही सारा गूढ़ रहस्य सप्तशतीकी (Philosophy) है। आइये! जगन्नियन्ता जगदादिकारण जगदीश्वरकी उस अनन्त, अपरिमेय, अतर्क्य, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय महाशक्तिके सामने शिर झुकायें। जिसका एक छोटासा रूप यह विश्वका विशाल नन्दन-वन है, जिसमें हम और आप अभिमानवश अपने तुल्य किसी अन्यको समझते ही नहीं!

अपनानेको

तेरे अतिरिक्त उर आसन न और हेतु ,
पर तू न होता है आसीन हुलसानेको ।
शीस रहता नित्य नीचेको प्रणाम करे ,
पर तू न देता वह अवसर आनेको ॥
दृगोंको सुहाता दूसरा न दृश्य तेरे छोड़ ,
पर तू न आता तरसाता देख पानेको ।
तन मन मेरा है तमाम अब तेरा हुआ ,
पर तू न लेता मुझको है अपनानेको ॥

भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद एम० ए०, एल-एल० बी०

हृदयाकाशके उज्ज्वल-नक्षत्र

(आचार-धर्म)

(१) आचार-धर्म वह प्रज्वलित अग्नि है जो आत्मामें आरोपित प्रकृत-विकारोंको स्वर्णके विकारोंकी तरह तपा कर विनष्ट कर देता है।

(२) मानव-देह धारण करनेका फल क्या है? 'सत्य-शिव-सुन्दर' इष्टदेवका दर्शन! परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि हमारा मनो-दर्पण निर्मल-अविकृत हो और ऐसा तभी हो सकता है जब हमारा तन और हृदय आचार-धर्मके रंगमें रँगा जा चुका हो।

(३) निरुक्तकार कहते हैं 'शब्द कामधुक् हैं, अच्छी प्रकार जाना हुआ एक शब्द ही परम-पदको प्राप्त करा देता है। उनमें 'आचार' शब्द भी एक है। आचार शब्दकी भाषामें उसकी एक व्युत्पत्ति इस प्रकार है। अर्थात् यह शब्द 'आङ्' उपसर्ग और 'चर' धातुसे मिलकर बना है। आङ्का अर्थ है मर्यादा और विधि। 'चर' का अर्थ है गति और भक्षण। संस्कृत-भाषामें गतिके अर्थ तीन हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। अब आचारका अर्थ हुआ—'मर्यादाके साथ ज्ञान, गमन और प्राप्ति करना। तब वह पुरुष जो मर्यादामें रहकर ज्ञान प्राप्त करता है, मर्यादाके साथ चलता (व्यवहार करता) है तथा मर्यादासे अपनी लौकिक जीवन-वृत्ति प्राप्त करता है,—आचार-धर्मका पालन करता है। इसी प्रकार मर्यादाके साथ भोजन-पान करने-वाला भी एकांशमें आचार-धर्मका पालन करता है।'

(४) दिव्य-आत्माएँ अपने जीवनको जिस प्रकार व्यतीत करती हैं वही सर्व-साधारणके लिये मर्यादा बनती है तथा जिन कारणोंसे हमारे हृदयाकाशकी पवित्रवाणी हमारे कानोंमें आनेसे रुकती हो अथवा दबती हो, प्राण देकर भी उन कारणोंसे दूर रहना मर्यादा कहलाता है। अतएव जो पुरुष मर्यादित-जीवन व्यतीत नहीं करता, वह स्वतन्त्र पशु है।

(५) यह समस्त भौतिक जगत् त्रिगुणात्मक है। यह अवश्य है कि कोई वस्तु अधिक सात्त्विक है और कोई अधिक तामसिक। हमारा आहार भी इन गुणोंसे अलग नहीं होता। अतएव हमारा खाद्य ऐसा होना चाहिये जो प्रकाशमें बाधक न हो। सतोगुण प्रकाशकी क्रीड़ा-भूमि है और तमोगुण अन्धकारकी। प्रकाश जीवन है और अन्धकार मृत्यु। अतएव यदि हम जीवन (सत्य) को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अपना मन सतोगुणी बनाना होगा और मन सतोगुणी तभी हो सकता है जब कि हमारा आहार भी सतोगुणी हो। क्योंकि मनका निर्माण अधिकतर हमारे आहारपर ही अवलम्बित है।

(६) यह बात आवश्यक नहीं कि जो वस्तु स्थूल शरीरके लिये प्रत्यक्षमें लाभदायक हो, वही हमारे सूक्ष्म-शरीरके लिये भी वैसी ही हो। मांस-भक्षण शरीरको पुष्ट करता है और मांसकी वृद्धि करता है, यह शरीरके लिये एक प्रत्यक्ष लाभ है। परन्तु मांस-भक्षण सूक्ष्म-शरीरपर इतना मजबूत काला पर्दा डाल देता है कि 'वह' दिव्या-लोक दिव्यानन्द, जिसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य

उत्पन्न हुआ है, दूर हट जाता है। इसी प्रकार सामाजिक नियम भी हैं। एक बात जो समाजके लिये प्रत्यक्षमें लाभदायक प्रतीत होती हो, वही धार्मिक-जगत्‌में अत्यन्त हानिकारक हो सकती है क्योंकि सामाजिक-दृष्टि और धार्मिक-दृष्टिमें गहरा भेद है।

(७) वैषयिक-सुख-प्रवाह अन्य है और मनुष्य-का आदर्श अन्य। स्थूल-दृष्टिसे दिखायी देनेवाली वस्तु 'वह' नहीं है जिसके लिये संसारके नर-नारी लालायित हैं। 'वह' गुप्त है, 'पर' है। हमें दिव्यासन-पर अधिष्ठित होना है। संयोगसे उसकी प्राप्तिसे पहिले आपत्ति आजाय, तब क्या भय मान कर उस स्वर्गीय परम-राज्यका पथ छोड़कर अन्ध-कूपमें गिर जायं ? कदापि नहीं। सिंह तृण न चरेगा! चातक सरोवरका जल न पियेगा! आचारवान् पुरुषोंकी भी यही गति है।

(८) सृष्टि-सञ्चालक अव्यक्त तत्त्व संसारमें मनुष्यके द्वारा उस महान् आनन्दपूर्ण स्वर्गीय-राज्यको स्थापित करता है, जिसमें भौतिक-दृष्टिकी कृष्ण यवनिका पड़ी हुई है। आचार-धर्म इस यवनिका में रासायनिक परिवर्तन करता है। धीरे धीरे उसका कृष्ण-वर्ण फीका पड़ने लगता है और तदनन्तर वह ठीक मलमलकी चादरके सदृश विशुद्ध-धवल निकल आती है, अन्तमें इस संसार और दिव्य-राज्यके मध्यसे वह भी उठ जाती है। तब आचारवान् मनुष्य उस दिव्य-राज्यका केवल अवलोकन ही नहीं करता वरन् उसमें स्वच्छन्द विहार करता है।

(९) आचार-धर्मका पहला पद-चालन जिस रम्य-स्थलपर होता है, वह है ज्ञान-भूमि। यदि मनुष्य अपना साधारणसे साधारण व्यवहार भी नित्य ज्ञानालोकमें रखकर नहीं देखता तो उसकी वाह्य आचार-क्रियाएं ढोंगमात्र हैं, तथ्य उससे दूर है। प्राणहीन शरीरवत् रूपक है।

(१०) हमारे नित्यकी स्थूल-क्रियाओंसे ही हमारा मन पाठ सीखता है। शरीर-शुद्धि, शुद्ध-वस्त्र-धारण, पवित्र सात्त्विक भोजन-पान बाहरकी बातें हैं। परन्तु इनका प्रभाव मनपर वैसा ही पड़ता है जैसा फोटो लेनेके प्लेटपर सामने खड़े हुए मनुष्यका। अतएव हमारा वाह्याचार भी हमारे अन्तरीय आलोककी प्राप्तिमें परम सहायक है। इसको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना मनुष्यमें प्रमाद-रोग उत्पन्न होनेका लक्षण है। इस रोगकी चिकित्सा यही है कि इन्द्रियजन्य-प्रलोभनोंसे बच-कर पथ्यपूर्वक वाह्याचारके नियमोंको आचरण-में लाया जाय।

(११) हमारे एक मित्रने पूर्णानन्द नामक स्वामी-जीका दर्शन किया। वे परमहंस अवस्थाको प्राप्त थे और अत्यधिक कालसे आध्यात्मिक-जगत्‌में रहते थे। अब उनको शौच-शुद्धि, खानपान-शुद्धिका कुछ भी ध्यान नहीं था। मित्र बोला-'देखो भाई! तुम शुद्धि शुद्धि पुकारा करते हो, क्या ये महात्मा अशुद्ध हैं ?' हमने कहा—'नहीं, परन्तु इनकी इस वाह्य दशाका अनुकरण हमें नहीं करना चाहिये।' पुनः मित्रने कहा-'क्यों' ? हमने कहा—इसलिये कि स्वामीजीकी यह वाह्यावस्था उनके उद्देश्य-प्राप्तिके लक्ष्यमें नहीं है। वे जहां पहुंच गये हैं वहां पहुंचनेपर स्वयं ही यह अवस्था हो जाती है, करनी नहीं पड़ती। हमारे लिये, वहां पहुंचे बिना वाह्य-दशाका अनुकरण करना संसारको धोका देना है। मित्र सहमत हुआ।

(१२) पूर्ण अज्ञानी और पूर्ण ज्ञानीकी वाह्यावस्था एक समान ही देखनेमें आया करती है। परन्तु साधककी अवस्था ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंसे भिन्न होती है। वह उस विवेक-शृङ्गपर खड़े होकर साधना करता है जहांसे ज्ञानमय जगत् बराबर मिला है और अज्ञानमय जगत् नीचे है। आचारवान् मनुष्य नीचे नहीं गिरता।

(१३) अखिलविश्व एक स्वर होकर कह रहा है—'हमें परम-पवित्र अनन्त-प्रभ-पूर्ण ज्ञान-भूमिमें जाना है।' तबउसको परम-पवित्र प्रभ-पूर्ण बनकर जाना

होगा। और यह पवित्रता, प्रभा, और यह ज्ञान आचार-धर्मका पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

(१४) हमें आचार-धर्म सीखनेके लिये भारतसे बाहर नहीं जाना होगा। क्योंकि आचार-धर्म प्रकृतिका पटल उठाकर जिस पूर्णतासे यहाँ प्रकट हुआ है, वैसा न कहीं हुआ है, न है, और न होगा ही। कारण, भारतभूमिपर सृष्टि-रचयिताकी पहली दृष्टि है। भारत सत्यकी पहली क्रीड़ाभूमि है, उद्गत होते हुए ज्ञान-सूर्यकी प्राथमिक मञ्जुल जीवनमय पवित्र रश्मियां इसको ही आलोकित करती हैं। अनुपम लावण्यमयी प्रकृति-सुन्दरी भारतकी रंगस्थलीपर ही अपनी पूर्ण कलाओंसे विश्व-विमोहन नाट्य करती है। आचार-धर्मका हृदय, भारतमें है, मस्तिष्क अन्यत्र हुआ तो क्या?

श्रीपद-रज-शिशु

आओ एकबार!

(लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल)

तुम कौन हो, जो मुझसे छिपकर रहते हो? यह ठीक है, कि मैं तुम्हें देख नहीं पाता, परन्तु प्राणोंमें तो तुम्हारा खूब अनुभव कर रहा हूं। काया नहीं दीखती, किन्तु अपनी छाया तो तुम नहीं छिपा सकते। ओ चतुर, बताओ तुम कौन हो? मेरे साथ क्यों इस तरह खेल कर रहे हो? नील-आकाशमें अगणित तारे झलमला रहे हैं, मेघका तनिकसा आभास समय समयपर निशानाथकी निर्मल ज्योत्स्नाको म्लान कर रहा है। चन्द्रोज्ज्वला यामिनी, जो अभी अभी युवतीके हास्य-सरस मुखचन्द्रकी भांति शोभा पा रही थी, अकस्मात् अतर्कित मेघमालाके उदय होते ही, उसकी वह हास्य-ज्योति अपूर्व गम्भीरताके रूपमें परिवर्त्तित हो गयी। इसी प्रकार तुम्हारा भी हास्य-पूर्ण मुखपद्म क्षण-क्षणमें अभूतपूर्व गाम्भीर्यसे गुरुतर होता चला जा रहा है। कभी देखता हूं, एक बार चन्द्रमा अपने शरीरको बादलोंमें छिपाता है, फिर तनिकसी देरमें ही न जाने क्यों हंसते हंसते बाहर निकल आता है, मानो मेघोंके साथ वह आँखमिचौनी खेल रहा है, ठीक वैसे ही, जैसे तुम जीवके हृदयाकाशमें कभी चन्द्र-लेखाकी नाईं अपूर्व ज्योतिरूपमें प्रकट होते हो, फिर कभी कभी अमावस्याकी रात्रिके सदृश घोर अन्धकारसे हृदयदेशको ढककर अपनेको छिपा लेते हो, और पुनः धीरे धीरे प्रकाशित होने लगते हो।

अरुणोदयके साथ साथ जब पूर्व-गगन सिन्दूर-रागसे रञ्जित हो उठता है, तब असीम सागरकी सुनील जलराशिके विक्षुभित तरङ्गोंसे एक कैसी अनोखी छवि फूट निकलती है—मानो हिल्लोलित सागरके तरङ्गाभिघातमें उसके वक्षःस्थलपर एक अभिनव शिशु नृत्य कर रहा है। प्रतीत होता है, उस छविके साथ मानो कोई खेल रहा है। इसके कुछ ही पहले देखा था, नवप्रभातके आगमन-समाचारकी सूचना देनेके लिये चञ्चला बालिका उषारानी नाचते नाचते हँसते हँसते किसी अन्धकारके अदृश्य गृहसे बाहर निकलकर आयी थी। उसकी उस हँसीसे कितनी जाति-यूथी, मल्लिका-मालती और शेफालिका

खिल उठीं, बकुल (मौलसिरी) तो आह्लादसे डगमगाकर किसीको देखते ही बाहर निकलनेके लिये झर पड़े। मृदु गन्धवह उनके शरीरसे सुगन्ध हरणकर उषारानीके शरीरपर मलकर चला गया, दिगङ्गनाएं कुसुम-सुवासको पाकर हँसने लगीं,– कोयल मानो किसीकी आहट सुनते ही कुञ्जोंमें पञ्चम-स्वरसे गा उठी , समस्त प्रकृतिमें सब ओर एक आनन्दका स्रोत बह चला। यह आनन्द किसका है? यह किसका प्रकाश है, किसको देखकर सबको इतना आनन्द हो रहा है? अपने मनका-सा खिलाड़ी लड़का मिलनेपर जैसे बालक आनन्दमें मतवाले हो उठते हैं, उसी तरह आज किस सुकुमार नयना-नन्द अखिल-जन-मनोहर बालकका अवतार हुआ है, जिसको पाकर फल-फूल, वृक्ष-लता, आकाश-दिशाएँ सभी हँस उठे हैं– सम्पूर्ण विश्व-मानवकी चेतना जाग उठी है? इस बार पकड़े जाओगे, अब छिपकर यह खेल नहीं कर सकोगे।

अच्छा! बताओ तो, तुम्हारा यह कैसा आनन्द है? पर्देकी आड़से तुम्हारा यह कैसा कौतुक है? मुझको एकबार राजाकी पोशाक पहनाकर, फिर भिखारीका साज सजा देते हो– यह तुम्हारा कैसा आमोद है? मैं इतना क्षुद्र हूं तब भी तुम्हारे साथ खेलता हूं, इससे क्या तुम्हारे मानकी कुछ भी हानि नहीं होती? तब क्या तुम प्रौढ़ नहीं हो? विज्ञ नहीं हो? तुम्हें एक नन्हेसे बच्चेकी तरह कितने दिनोंसे देख रहा हूं, कितना काल बीत गया, परन्तु तुम्हारा लड़कपन नहीं मिटा? देखते देखते मैं बड़ा हो गया, बूढ़ा हो गया, अब और भी जीर्ण हो रहा हूं—पर तुम कौन हो, नित्य-नूतन, अनूप-रूप-किशोर, अपूर्व सौन्दर्य-शिरोमणि, गीत-गन्ध-पूर्ण—जो मेरे हृदय-कुञ्जमें विराजित होकर चिरकालसे इतने सुर अलाप रहे हो? बँसरीके सुरोंसे किस-किस तरह सबको अपने पद-प्रान्तमें खींच रहे हो? संसारके साथ हृदयका जो संयोग-सूत्र बँध गया था, तुम्हारे आकुल आह्वान-सुरसे संसारके साथ बँधा हुआ हृदयका वह तार तुरन्त ही टूट गया। तुम सभीको खेलके लिये पुकार रहे हो? तब फिर घरमें रहेगा कौन? अच्छी बात है, खिलाते रहो, जितना तुम्हें अच्छा लगे। पता नहीं, कबसे कितने खेल खेल रहे हो–क्या तुम अपने इस खेलको कभी बन्द नहीं करोगे?

अच्छा, यदि तुम्हें खेल इतना प्यारा है, तो फिर इस तरह छिप-छिपकर क्यों खेलते हो? तुम्हारा आपादमस्तक सम्पूर्ण रूप तो मुझे आजतक कभी देखनेको नहीं मिला। कभी पीठ, कभी पीठपर लटकती हुई वेणी, कभी कमलकी रक्त-आभाके सदृश कोमल किन्तु दृढ़ हथेलियां, कभी स्थल-कमलकान्ति-सदृश बालारुणकी ललित लालिमा जैसे लाल लाल उभय चरण-कमल, कभी कोटि कोटि शशधर-सुधा-सुन्दर श्रीमुख, कभी स्थिर विद्युत्की शोभाको हरनेवाली अपने नेत्र-कोणकी हास्य-रेखा दिखाकर, और कभी मुग्ध-कारी- मुरली-स्वर तथा कभी अपने कण्ठका सुन्दर सुधा-पूर्ण हृदयोन्मादकारी नीरव सङ्गीत सुनाकर, तुम हो, बस, इतना ही जनाकर पुनः किस अदृश्य गृहमें छिप जाते हो? ये दर्शनकी प्यासी आँखें बाट देखते देखते अन्धी हो गयीं, कान तुम्हारी मधुर-वाणी सुननेकी आशासे स्तब्ध होकर राह देखते देखते बहरे हो गये, शरीर तुम्हारा मधुर स्पर्श पानेके लिये जीवनभर रो रोकर विवश हो गया, मन तुम्हें खोजते और तुम्हारा चिन्तन करते करते पागल हो गया! तो भी हे चञ्चल! हे दुरन्त! तुम अभी उसकी पकड़में नहीं आये? क्या तुम कभी अपनेको नहीं पकड़ाते? क्या यही तुम्हारा नियम है? मैं सदा-सर्वदा आँखोंके अश्रु-स्रोतसे वक्षःस्थलको बहाता रहूंगा और तुम छिपे-छिपे ही बँसरी बजाओगे? यह व्यवहार क्या युक्तियुक्त है प्यारे? सुना है तुम बहुत बड़े आदमी हो। क्या इसीसे तुमको असीम अनन्त

कहते हैं? क्या यह ठीक है? फिर तुम्हारी थाह पानेका उपाय क्या है? तुम यदि सचमुच इतने बड़े हो, मेरे मन बुद्धिके अगोचर ही रहते हो, तो फिर अपना रूप दिखलाया ही क्यों? क्यों अपनेको प्रकट किया? और मेरे मनमें अपने लिये इतनी व्याकुलता ही क्यों भरी?

मैंने सोचा था, तुम सूर्यसे भी बहुत बड़े हो, तुम इतने महान् हो, कि तुम्हारे अन्दर, आकाशके शरीरपर तारागणोंकी भाँति न मालूम कितने सूर्य टिमटिमाते हैं। और मैं? पृथ्वी, जो सूर्यके सामने एक तुच्छ पदार्थमात्र है,—मैं, उस क्षुद्र पृथ्वीके एक क्षुद्रतर प्रान्तके क्षुद्रतम अंशके एक कोणका क्षुद्राद‌पि क्षुद्र केवल एक जीव हूं। तुम इतने बड़े, ऐसे क्षुद्रकी क्यों परवा करते होगे? देशके बादशाह, अपनी असंख्य प्रजामेंसे किस किसको पृथक् पृथक् पहचानते हैं, उनके व्यक्तिगत सुख-दुःखसे बादशाहको क्या आता जाता है? सोचा था मैंने, कि, तुम भी ठीक ऐसे ही हो। इससे मनमें यह आनन्द-सा रहता था, कि तुम्हारी नज़रसे अलग किसी तरहसे जीवन-यात्रा चली जा रही है। तुम अपनी महान् महिमामें विराजमान हो, तो मैं अपनी क्षुद्रताके एक कोनेमें पड़ा हूं।

परन्तु तुम्हारी यह कैसी अद्भुत लीला है? मैं, जो इतना क्षुद्र हूं, और ये सब धूलिके कण, जो कितने क्षुद्रतम हैं, तुम इनमेंसे किसीको भी नहीं भूलते! सभीके साथ तुम्हारी खासी जान-पहचान है। इतने क्षुद्रोंमें भी तुम अपनी पूर्णताको साथ रखते हुए सदा-सर्वदा विराजमान हो। दीन समझकर किसीसे घृणा नहीं करते, क्षुद्र देखकर किसीकी अवहेलना नहीं करते, इतने क्षुद्रके साथ भी ठीक समानकी तरह व्यवहार करते हो—सखा कहकर पुकारते हो। मैं सोचता था, विश्वमें तुम न मालूम कैसी एक विराट् वस्तु हो, मुझ सरीखे एक अत्यन्त क्षुद्र, तुच्छातितुच्छ जीवकी पुकारका उत्तर उसे क्यों देते होगे? हरि! हरि! तुम तो बिना ही पुकारे आकर खड़े हो गये! मैं तुम्हारी आँखोंसे ओझल होना चाहता हूं,—मैं छोड़ना चाहता हूं, पर तुम नहीं छोड़ते! यह तुम्हारा कैसा तमाशा है नाथ? यह तुम्हारी कैसी व्यवस्था है? मेरे भूले रहनेसे क्या होगा, तुम जो भूलने नहीं देते! मैं तुम्हारी ओर नहीं देखना चाहता, इससे क्या होगा, तुम जो आँखोंकी दृष्टिको खींच ही लेते हो! अच्छा! मेरे, इतने क्षुद्रके साथ तुम्हारी यह कैसी रंगरलियाँ प्रभो? मैंने सोचा था, तुम असीम हो, अनन्त हो, महान् विराट् हो, तुम्हारे एक एक रोममें न मालूम कितने ब्रह्माण्ड बुद्‌बुदकी भांति पल पलमें बनते बिगड़ते हैं, मेरी खोज-खबर रखनेकी तुम्हें क्यों फुरसत मिलती होगी? मैं खूब निश्चिन्त था। पर अब यह क्या देख रहा हूं? मेरी समझ तो सभी उल्टी हो गयी! तुम तो मेरी ज़रा-ज़रासी खबर रखते हो; मेरे मनकी कोई भी बात, मेरे घरका कोई भी समाचार तुमसे छिपा नहीं है। मेरे नाथ! तुम इतनी खबर कैसे रखते हो? कितने ब्रह्माण्ड हैं—कितने जीव हैं, तुम प्रत्येककी पृथक् पृथक् खबर रखते हो! किसी दिन भी तो तुम्हारी भूल नहीं होती। यह सब कैसे होता है? तुम्हारी इस महिमापर विचार आरम्भ करते ही बुद्धि स्तम्भित हो जाती है। अच्छा बताओ, तुम जो इतने बड़े थे, इतने छोटे कैसे बन गये? छोटे हो अवश्य,—नहीं तो मेरे साथ-साथ कैसे फिर सकते? तुम जो सर्वव्यापी एक अखण्ड हो, एक ज़रासेमें और सभीमें वही तुम एक जो सर्वव्यापी अखण्ड सच्चिदानन्दघन अनन्त ज्ञान-निलय ज्ञानरूप हो—इसीतरह प्रत्येक क्षुद्र अवयवके सामान्य अंशमें भी तुम वही ज्ञानमय-प्रेममय हो। यह तुम्हारी कैसी लीला है? ओ मायावी, क्या यही तुम्हारी माया है?

प्राणोंको यह बात कैसे समझाऊं, कैसे विश्वास करूं कि तुम मुझे चाहते हो। परन्तु यह तो प्रत्यक्ष देखता हूं कि तुम मुझे घड़ी भरके लिये

भी नहीं छोड़ते; अपने सभी चिन्तनमें, अपने सभी कार्योंमें मैं सदा तुम्हारा अस्तित्व देखता हूं-मेरा जो कुछ भी गुप्त रहस्य, मनके एकान्त गुह्य स्थानमें छिपा है, वह सभी तुम जानते हो, तुमको किसी तरह भी धोखा नहीं दिया जा सकता !

ओ मायावी ! एकबार उठा दो यह पर्दा, फाड़ डालो इस मुखके घूँघटको, जिससे तुम्हारा निरावरण चन्द्रवदन मैं एक बार देख लूं,-जी भरकर देख लूं मेरे प्राणप्यारे !

हे पागल ! हे अनादि अनन्तकालके शिशु ! हे नित्य अविनाशी, नित्य आनन्दमय किशोर, हे मेरे पुरातन, सर्वप्राचीन सनातन पुरुषोत्तम ! क्या मेरी विनीत प्रार्थनापर ध्यान दोगे ? एक दिन तुम्हारे जिन कमल-रक्त-राग-रञ्जित पादपद्मोंकी छाया देखी थी, क्या एकबार वे चारु चरणकमल मुझे दिखाओगे ? कहां हो मेरे नयन-चोर, कहां हो मेरे नेत्रोंकी नित्य ज्योति, कहां हो मेरे प्राणोंके परम पुलक ? तुम्हारी वह भुवनमोहिनी, हृदय-शीतल-कारिणी माधुरी मूर्ति कहां है ? अब कबतक मुझसे अपना वह दिव्य मनोहर स्वरूप छिपाये रक्खोगे ? आओ एकबार ! चकितकी भांति आओ सत्वर, अपनी उस अनूप-रूप मुनि-मन-मुग्धकारिणी माधुरीको लेकर,-सुरासुरवन्दिता अपूर्व शोभन-श्रीको लेकर; एक बार मोहन सजकर मधुररूपमें मेरे हृदय-देशमें आकर खड़े तो होओ नाथ ! जिससे तुम्हारे उस आवरणहीन परिपूर्ण अरूप रूपको निरखकर इस मनुष्य-जीवनको सार्थक कर लूं !

गुरु-गौरव

(ले०-श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज शास्त्री, आचार्य बी० ए०)

वसंततिलका

श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाम्बुज-चञ्चरीक[1]-
शुद्ध स्वरूप-गुरुमें नति अव्यलीक[2] ॥
होता गुरु-द्यु[3]मणिका जब है प्रकाश
अज्ञान-रात्रि-तमका तब हो विनाश ॥ १ ॥

विज्ञान-कञ्ज विकसै नयनाभिराम
अल्पज्ञता-भगण[4]-आवलिका विराम ॥
उद्योग-कोक[5] गण है करता विहार
आलस्य-घूक[6] रहता शिथिल-प्रचार ॥ २ ॥

सद्धर्म-पक्षिकुल है नित चहूचहाता
खद्योत[7] दम्भ चलता नहिं दृष्टि आता ॥
धीमन् ! गुरु-द्यु मणिमें निज भक्ति लाना
सत्कार्यमें उचित है न विलम्ब लाना ॥ ३ ॥

संसार-सागर सखे, यह है दुरन्त[8]
मोहान्धकार जिसमें, न विवेक हन्त !
सन्तापि काम-बडवानल[9] है प्रचण्ड
लोभादि-घोर मकरादि जहाँ उदण्ड ॥ ४ ॥

क्रोध-प्रवात[10] बहता मद-मेघ-साथी
आवर्त्त[11] है विषयका जिसमें प्रमाथी[12] ॥
विद्वन् ! बचो विपतिसे तनु-पोत[13] पैठे ॥
सत्कर्म-सीढ़ि चढ़िके मन लाय बैठे ॥ ५ ॥

ज्ञान-प्रदीप जलता उसमें अखण्ड
होते सुदीप्त जिससे सब ब्रह्म-अण्ड ॥
श्रीकर्णधार[14]-गुरुके पद लौ लगाना
सत्कार्यमें उचित है न विलम्ब लाना ॥ ६ ॥

---

१ भ्रमर, २ शुभ, ३ सूर्य, ४ नक्षत्र, ५ चकवा, ६ उल्लू, ७ पटबीजना, ८ अनन्त, ९ समुद्रकी अग्नि, १० आँधी, ११ भँवर, १२ दुःखदायी, १३ जहाज, १४ नाव चलानेवाला

नयी दुलहिन

(लेखिका—बहिन जयदेवीजी)

नवीन आयी हुई वधूको सिर झुकाये बैठे देखकर कुलीन शिष्टाचारिणी शिक्षिता सास उसे आश्वासन देती हुई इस प्रकार कहने लगीः—

हे प्राणप्यारी दुलहिन! इतना बड़ा घूँघट क्यों निकाल रक्खा है? अवश्य ही कुलीन बहू-बेटियोंके लिये लज्जा और शील शोभा ही नहीं, धर्म भी है, तथापि इतनी लज्जा किस कामकी? हे सर्वाङ्गसुन्दरी! इतनी संकुचित मत हो, घूँघट खोल कर अपना चाँदसा मुखड़ा दिखाकर मुझे सुखी कर। आज तेरे आनेसे हमारा घर जगमगा उठा है, हमारा क्या, घर तो तेरा ही है, तू ही इस घरकी मालकिन है! कोई गैर तो यहां है नहीं, जैसी तेरी बहिनें संग-सहेलियां वहां थीं, वैसी ही यहां भी हैं। फिर तू इतनी क्यों शरमाती है? पुत्रको लोग घरका दीपक मानते हैं, वास्तवमें पुत्र तो एक ही घरका दीपक है, परन्तु पुत्री तो माता-पिता, सास-ससुर दोनोंके कुलोंका उजियाला है! सुशीला कन्याएं माता-पिताका यश बढ़ाती हैं और सास-ससुरकी कीर्ति भी उन्हींसे फैलती है! विदेहराज जनकने सीतासे कहा था—पुत्रि! पवित्र कीन्ह कुल दोऊ! बेटी! तेरे माता-पिता जैसे लाड़-चाव करते थे, वैसे ही हम भी तुझे गोदीमें बैठायेंगी, आंखोंकी पुतली बनाकर रक्खेंगी, लाड़ लड़ावेंगी, लक्ष्मीकी सदृश तेरा पूजन करेंगी। हे कमल-नयनी! तैंने आंखें क्यों नीची कर रक्खी है? मेरी ओर आंख उठाकर तो देख! मैं भी तुझे देखकर अपनी आंखें ठंडी करूं! भगवान्‌ने बहुत दिनोंमें हमारी आशा पूर्ण की है! घरके मनुष्य ही नहीं, कुत्ते-बिल्ली भी तेरा घरमें आना देखकर वदन-में फूले नहीं समा रहे हैं! हे चन्द्रवदनी! बाहरसे भी बहुत-सी बहिनें तेरा मुख-चन्द्र देखने आयी हैं! घर-बाहरकी सभी तेरा आना सुनकर सिहा रही हैं! मंगल-गान कर रही हैं! तेरे बहानेसे ही सीतारामके मनोहर गीत गा रही हैं, रुक्मिणी-मंगल कर रही हैं! तेरे आनेसे ही हमारे घरमें मंगल हो रहा है! हे पिकवयनी पुत्री! चुपकी क्यों बैठी है? कुछ तो मुखसे बोल! श्रीरुक्मिणी-कृष्णका कोई भजन हमें भी सुना दे। हमने सुना है, तुझे बड़े सुन्दर सुन्दर भजन आते हैं, तू गाने-बजानेमें कुशल है, ताल-स्वर पहचानती है, राग रागिनीका भी तुझे कुछ बोध है। यह सितार रक्खा हुआ है, इसे बजा तो सही। हे गजगामिनि! इधर उधर आंगनमें घूम, कमरे-कोठरी देख ले, तेरा ही घर है, इसे सँभाल ले! रसोई-चूल्हा-चौका देख ले! हमारा भाग्य आज उदय हुआ है, भगवान्‌ने हमारे सिरका बोझ उतारनेके लिये ही तुझको भेजा है! तेरे काम सँभालते ही हमारा बोझ उतर जायगा! तू ही घर-की मालकिन है, हम तो दो रोटियोंके ग्राहक हैं! दो रोटियां हमको भी दे दिया करना! समय समयका कार्य अच्छा होता है, तेरा समय काम करनेका है, हमारा समय भजन करनेका है! इसी आशासे अनेक कष्ट सहकर भी माता-पिता बेटे-बेटियोंको पालते हैं! भगवान् घट-घट-वासीने आज हमारी आशा पूर्ण कर दी है!

सासकी ऐसी मधुर-रस-सानी मन-लुभानी वाणी सुनकर शीलवती वधू कुछ न बोली और मन

ही मन, जिन भगवान्‌की कृपासे ऐसी निस्पृह प्रेमकी साक्षात् मूर्ति सास प्राप्त हुई, उन भगवान्‌का स्मरण करने लगी और नेत्रोंसे सासका मुख दर्शनकर धीरेसे विनययुक्त वचन बोली कि 'आप सरीखी सासको पाकर मैं अपना अहोभाग्य समझती हूं। भगवान् आपके सभी मनोरथ पूर्ण करेंगे। मैं तन, मन और वाणीसे आपकी सेवा करूंगी। आपकी सेवा करना ही मेरा परम धर्म है।'

जो सास अपनी पुत्र-वधुओंको कन्यासे अधक मानकर उनके साथ सुन्दर बर्ताव करती हैं, उनको बहुओंकी रग-रगसे इसीप्रकार हार्दिक आशीर्वाद मिला करता है। सासुएं आशीर्वाद देती तो बहुत हैं परन्तु इस प्रकार अपनी अच्छी वृत्तिसे प्राप्त करना भी सीख जायं तो बड़ी उत्तम बात हो। अस्तु। इस संवादके दस-बारह दिन बाद एक दिन सास बड़े प्यारसे बहूका हाथ पकड़कर घरकी सब वस्तुओंको एक एक कर दिखलाने लगीः—

हे मेरी आंखोंकी पुतली पुत्री! देख! ये वस्त्रोंकी पेटियां हैं, इस सन्दूकमें रेशमी ऊनी वस्त्र रक्खे हैं, विवाह-उत्सवादिपर ये उपयोगमें आते हैं। इनकी प्रत्येक तहमें नीमके पत्ते रक्खे हैं, जिससे इनमें कीड़े या दीमक नहीं लगते! बीच बीचमें एक एक सूती कपड़ा रक्खा है, इससे भी दीमक नहीं लगते! वर्षाके दिनोंमें जब कभी बादल न हो, तो इनको धूप दिखा देते हैं। इस पेटीमें रोजके पहननेके सूती कपड़े हैं, मोटे भी हैं, महीन भी हैं! जैसे पसन्द हों, पहन सकती हो, विशेषकर आजकल मोटे कपड़े पहननेकी प्रथा है, रिवाजके अनुसार चलनेसे नामधराई नहीं होती, उल्टी प्रशंसा होती है, 'जैसा देश वैसा वेष' यह बड़े लोगोंका कथन है। यह डिब्बा गहनोंका है, इसमें सोने-चांदी सभी प्रकारके आभूषण हैं। आजकल बहुतसी बहिनें गहने पहनना बोझ समझने लगी हैं, है भी वास्तवमें ऐसा ही। फिर भी धनी गृहस्थोंका धर्म है। ये गहने समयपर काम आ ही जाते हैं। यह रुपया-पैसा रखनेका भण्डार है, खर्चसे बचा हुआ धन यहींपर रक्खा जाता है! यह गेहूँ, चावल आदि रखनेका कोठा है, एक एक वस्तु क्रमसे रक्खी हुई है। गृहस्थके घरमें यदि ईश्वर दे तो सालभरका अन्न मौजूद रहना चाहिये, बड़े लोगोंसे ऐसा सुनते आये हैं। इस अलमारीमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, धर्म और नीतिके ग्रन्थ हैं, ये उपनिषद् हैं, ये भगवद्गीताकी पुस्तकें हैं, इनपर कई आचार्योंकी टीकाएं हैं। यह चाणक्यनीति है, यह विदुर-नीति है, यह मनुस्मृति है, यह तुलसीकृत रामायण है, इसपर कई टीकाकारोंके तिलक हैं। इस ग्रन्थमें गर्भाधानकी विधि है, इसमें षट्रसोंका विधान है और उनके बनानेकी रीति बतायी है। इसमें छोटे बच्चोंकी उपयोगी दवाएं लिखी हुई हैं। इस ग्रन्थमें स्त्रियोंकी विचित्र विचित्र कथाएँ हैं, जिनके पढ़नेसे स्त्री-धर्म स्पष्ट हो जाता है। और भी सभी वर्णाश्रमोंके धर्मके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, सबके नीचेके भागमें उनके नाम लिखे हैं। अलमारी खोलते ही सबके नाम मालूम हो जाते हैं। देख, यह गर्मीके दिनोंका प्रसूतिगृह (जच्चाखाना) है, इसमें प्रकाश और वायुका उचित प्रबन्ध है। यह जच्चाखाना जाड़के दिनोंके लिये है, इसमें सर्दी न आनेका पूरा प्रबन्ध किया गया है। यह ईंधन रखनेकी कोठरी है, इसमें सालभरके लिये ईंधन मौजूद रहता है। यह कमरा स्त्रियोंके सोनेका है, एक नौकरानी और मैं इसमें सोया करती थी, अब मैं और तू इसमें सोया करेंगी। जब तेरी देवरानी आ जायगी, तब तुम दोनों बहिनें सोया करना। यह मेरे भजन करनेकी कोठरी है, इसमें पाठादि किया करती हूं। यह बालगोपाल श्रीकृष्णकी मूर्ति है, छींकेसे मक्खनकी मटकिया उतारनेका उपाय कर रहे हैं, यशोदा मैया कहीं आकर देख न लें, इस भयसे बारम्बार बाहरकी ओर ताक रहे हैं। यही मेरे इष्टदेव हैं। तेरे ससुर भी इन्हींका ध्यान करते हैं। उन्होंने मुझे इनका पूजन-ध्यान करनेकी

आज्ञा दी है। और भी बहुतसे देवताओं तथा अन्य अवतारोंके चित्र भी देख, ऊपर टँग रहे हैं। जब तेरी देवरानी आ जायगी, तब मैं रातको भी इसीमें सोया करूंगी। ऐसा विचार है। गोपालजी करें, वह दिन आवे। अभी तुझे अकेले नहीं छोड़ सकती! तू माता-पिताको छोड़कर पराये घर आयी है। यद्यपि घर तेरा ही है, परन्तु मुझे अनुभव है, मैं भी मा-बापकी याद किया करती थी, ऐसा ही तेरा भी हाल होगा। सबका जी अपनासा ही जानना चाहिये। बेटी! तेरी तो अभी उम्र ही क्या है। पहले पहल ऐसा ही होता है। यह तेरे ससुरके भजन करनेका कमरा है। देख, इसमें भगवान्की अनेक लीलाओंके कैसे कैसे मनोहर चित्र चारों ओर दीवारोंमें टँगे हैं। यह पास ही उनके बैठनेकी बैठक है। यह कमरा बड़े लल्लाका है और यह छोटे लल्लाका है। इस दालानमें पण्डित यज्ञदत्तजी प्रतिदिन आकर दुर्गाका पाठ किया करते हैं। देख, दक्षिण कोणमें उत्तराभिमुख शौचादिके स्थान हैं, ये तूने देखे ही हैं। ये रहनेके मकानोंसे बहुत दूर फासलेपर हैं, यहां आने जानेमें भंगनको आँगनमें होकर नहीं निकलना पड़ता। चल, घरके पीछे महिलाओंके सैर करनेका बगीचा है। बगीचेकी लम्बाई चौड़ाई एक फलांग है। यह गुलाबकी रौश है, ये बेलेके झाड़ हैं, यह मोतिया है, यह मोगरा है और भी जुई, सदा सुहागिन आदि अनेक पौधे हैं! चमेलीका झाड़, देख, कैसा अच्छा खिल रहा है, इसकी सुगन्धसे मस्तिष्कमें ठण्डक आती है, मन प्रफुल्लित होजाता है, चमेलीसे बढ़कर तो कोई फूल ही नहीं है, इसके सामने सब पानी भरते हैं। यह केवड़ा है, यह चम्पक-चम्पेका गमला है। अभी फूल नहीं आये। देख, घास कैसी हरी-हरी एकसार बिछी हुई है, मानो, हरी मखमलका सुहावना फर्श ही बिछ रहा हो। देखते ही आंखोंमें तरी आ जाती है!

देख, ये दस कमरे बराबर बन रहे हैं, इनमेंसे पहलेमें पण्डितानीजी रहती हैं। इनका नाम शारदा देवी है, 'यथा नाम तथा गुण' सचमुच सरस्वती देवीका ही अवतार हैं। वेद, वेदाङ्ग, पुराण, इतिहास, "भागवत, गीता, रामायण, आदिकी पूर्ण ज्ञाता हैं, सिवा भजनके और कुछ भी काम नहीं करतीं! इन नौ कमरोंमें आसपास तीनों वर्णोंकी विधवा बहिनें रहती हैं। पण्डितानीजीको सब माताजी कहती हैं। माताजी सन्ध्याके समय दो घण्टे गीता आदि ग्रन्थोंका प्रवचन करती हैं, शहरकी भी दस बारह स्त्रियां आती हैं, और सब मिलकर इनका प्रवचन सुनती हैं। अपनी अपनी योग्यतानुसार भजन-ध्यान करती हैं। सब शहरोंमें ऐसा ही होने लगे, तो भारतके भाग खुल जायं!

इतना कहकर सास अपनी नयी वधूको माताजीके पास ले गयी। स्वयं माताजीके चरण छुए और वधूसे ढोक दिलवायी। पश्चात् एक एक करके सब कमरोंमें ले जाकर भजन-मण्डलीके दर्शन कराये। सबके दर्शन कराकर फिर इसप्रकार कहने लगीः—

हे सौभाग्यवती! चल मेरे साथ, देख, यह भजन-मण्डलीका रसोईघर है, कुवां पास है, सब मिलकर रसोई-पानीका काम कर लेती हैं। इस कोठरीमें इनके खाने-पीनेका सामान रहता है। इसका प्रबन्ध तेरे ससुर करते हैं, रुपया कमेटीका लगता है। देखभाल उनके जिम्मे हैं। विशेष नहीं, कोई पचास रुपये महीनेका खर्च है। ब्राह्मणी और अन्य जो कोई खाना चाहे, उनको बिना दाम क्षेत्रसे भोजन-वस्त्र दिया जाता है और क्षत्रिय, वैश्य जातिकी महिलाएं जो क्षेत्रका नहीं खाना चाहतीं, वे अपने पाससे दाम देती हैं अथवा उनके घरसे आ जाता है। भजनके सिवा उनको और कुछ नहीं सिखाया जाता और न उनसे कुछ काम ही कराया जाता है। बाहर जानेकी किसीको आज्ञा नहीं है। न कोई पुरुष यहां आने पाता है। माताजी सबकी देखभाल रखती हैं, यों तो सब कुलीन और भगवद्भजनसे

प्रेम रखनेवाली हैं ही, फिर भी बन्धनमें पड़े बिना कोई स्वतन्त्रताका पाठ नहीं सीख सकता और न स्वतन्त्र हो सकता है, इसलिये माताजी सबपर निगाह रखती हैं। यह माताजीके उपदेश करनेका चबूतरा है, इस चौकीपर बैठकर वे सबको कथा सुनाया करती हैं और गूढ़से गूढ़ प्रश्नोंका समाधान किया करती हैं। इससे बड़ा एक बाग और है, वह शहरके बाहर है, वहां भी बीस पच्चीस साधु रहते हैं, उनके दर्शन फिर किसी दिन कराऊंगी।

दो वर्ष बाद छोटे लड़केकी बहू आयी! सासने उपयुक्त प्रकारसे प्रिय सम्भाषण करते हुए उसे भी घर तथा बगीचेकी सैर करायी और एक दिन एकान्तमें दोनों पुत्र-बधुओंको इस प्रकार समझाने लगीः—

सासः—हे मेरी प्यारी पुत्रियो! यह शरीर अन्नसे उत्पन्न हुए रज-वीर्यरूप अपवित्र पदार्थोंका बना हुआ और अस्थि-रक्तादि अपवित्र वस्तुओंसे युक्त है। क्षण-क्षणमें नाश होनेवाला है। इसका एक क्षणका भी भरोसा नहीं है, ऐसे क्षणभंगुर शरीरमें कोई मूर्ख ही भले आस्था करे, विद्वान् तो इसमें आस्था नहीं करते! धन-ऐश्वर्य भी चलती-फिरती छाया है, आज है, कल रहेगा या नहीं, उसका ठिकाना नहीं है। संसारका कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है, अस्थिर पदार्थोंमें प्रेम करनेसे सुख मिलनेकी कभी आशा नहीं, सुख तो स्थिर पदार्थमें होता है। कहा भी है 'क्या परदेशीकी प्रीति और क्या फूंसका तापना' संसार परदेश है और संसारके पदार्थ परदेशी हैं। इनसे प्रेम करना फूंसके तापनेके समान है। एक आनन्दस्वरूप आत्मा ही अपना असली देश है, वही सुखरूप है। यद्यपि आत्मा अपना आप है, कहीं दूर नहीं है, फिर भी शुद्ध अन्तःकरण हुए बिना आत्माको कोई जान नहीं सकता। अन्तःकरण मलिन होनेसे अपने हृदयमें स्थिर आनन्दस्वरूप आत्माको कोई नहीं देखता क्योंकि सबकी दृष्टि बाहरकी ओर हो रही है। बाहरका मिथ्या संसार तो सच्चा भासता है और भीतर बाहर एकरस अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा मिथ्या-सा हो रहा है। सत्यको मिथ्या और मिथ्याको सत्य जानना, इसीका नाम तो अज्ञान है। शुद्ध अन्तःकरण बिना सत्यासत्यका निर्णय होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। देखो, नर-नारी-मात्रके शरीरमें रज-वीर्य ही सार है। जबतक रज-वीर्यकी शरीरमें स्थिति है, तभीतक जीवन है। सारी उछल-कूद इन्हीं दोनोंकी है। कुमारावस्थामें जितना उत्साह और पराक्रम होता है, उतना विवाह होनेके बाद नहीं रहता। जो चतुर स्त्री-पुरुष वीर्यकी रक्षा करते हैं और उसका यथार्थ उपयोग करते हैं, वे जीवनभर सुखी और आरोग्य रहते हैं और उनकी सन्तान भी दृढ़ और बलवान् होती है। आजकल जो अनेक रोग और अकाल-मृत्यु देखनेमें आती हैं, उसका प्रधान कारण वीर्यका दुरुपयोग ही है। स्त्री-पुरुषोंको ऋतुकालके सिवा अन्य कालमें समागम करना कभी उचित नहीं। ऋतुकालमें दूध, चावल आदि सूक्ष्म आहार करना चाहिये और समागमसे प्रथम सूर्यादि दसों दिग्पालोंका ध्यान करके अथवा अपने पतिमें उनकी भावना करके उत्तम सन्तान प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। गर्भाधान-विधिमें इसका उत्तम प्रकारसे विधान है। ऐसा करनेसे अपना और दूसरोंका, सभीका उपकार स्वाभाविक ही होता है क्योंकि शिष्ट स्त्री-पुरुषोंके आचरणका ही साधारण स्त्री-पुरुष अनुकरण करते हैं। शिष्ट पुरुषोंका आचरण प्रमाणरूप माना जाता है। सारांश यह कि, वीर्य-रक्षा स्त्री-पुरुषोंका प्रथम और मुख्य कर्तव्य है। ऐसा करनेसे लोक-परलोक दोनों सुधरते हैं। लोकमें कीर्ति होती है और परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है, इसलिये वीर्य-रक्षा स्त्री-पुरुषोंका मुख्य धर्म है।

इसके सिवा सभीसे मीठी और हितकारिणी वाणी बोलनी चाहिये। मधुर और हितकर वचन,

बिना कौड़ी पैसा खर्च किये ही सबका उपकार करता है। जिससे किसीका दिल दुखे, ऐसी सच्ची बात भी यथासाध्य कहना योग्य नहीं है। मिथ्याभाषण तो सर्वथा ही त्याज्य है। वृथा बातें बनाना, किसीकी निन्दा-चुगली करना, महापातकरूप है। कहा भी है 'परनिन्दा सम कोई पाप नहीं है और परोपकार सम कोई पुण्य नहीं है' और भी कहा है:— 'खोय चटोरी एक घर दो घर खोय बतोर!' इसलिये व्यर्थ-भाषण और परनिन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये। स्त्रीका मुख्य धर्म पतिव्रत है। पतिव्रता भी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकारकी होती हैं। अपने पतिके सिवा दूसरा कोई पुरुष ब्रह्माण्डमें नहीं है, ऐसे निश्चयवाली उत्तम पतिव्रता है। अपना पति ही पति है, अन्य पुरुष वयानुसार पुत्र, भाई, चाचा, ताऊ आदि हैं, ऐसे निश्चयवाली मध्यम पतिव्रता कहलाती है और पति, कुल तथा जाति आदिके भयसे अपने पतिव्रतकी रक्षा करनेवाली कनिष्ठ पतिव्रता है। हे बेटियो! यदि गृहस्थाश्रमका यथायोग्य पालन किया जाय तो जो गति संन्यासी आदिको बड़े कठिन तपसे प्राप्त होती है, वही गति गृहस्थको सहजमें ही प्राप्त हो सकती है। आश्रम बड़ा छोटा नहीं है, आश्रम धर्मका पालन करनेवाला ही श्रेष्ठ है। गृहस्थ-धर्मकी शिक्षा देनेवाली एक कपोत-कपोतिनीकी कथा महाभारतमें इस प्रकार है:—

कपोत-कपोतिनीकी कथा

जाड़ेके दिनोंमें एक पारधीने जंगलमें जाल बिछाया परन्तु दैवयोगसे कोई पक्षी उसके जालमें नहीं आया। केवल एक कपोतिनी उसके जालमें आयी, उसको लेकर दिनभरका थका-माँदा भूखा-प्यासा पारधी उसी वृक्षके नीचे आकर ठहरा, जिसपर कपोत-कपोतिनीका घोंसला था। कपोत आगया था और कपोतिनीके न आनेका इसप्रकार सोच कर रहा था—

कपोत—आज बड़ी आँधी और वर्षा आयी है, मेरी कपोतिनी अभीतक नहीं लौटी, क्या कारण है? मेरी प्रिया वनमें चारा लेने गयी थी, न मालूम क्या हुआ, उसके बिना मुझे अपना घर सूना लगता है! घर घर नहीं है, गृहिणी ही घर है। स्त्री बिना घर अरण्य-वनके समान है, रक्त नेत्र-वाली, विचित्र वर्णके शरीरवाली और मधुर स्वरवाली मेरी स्त्री यदि आज लौटकर न आयी, तो मेरा जीवन ही नहीं रहेगा। मेरी स्त्री ऐसे उत्तम ज्ञानवाली है कि जबतक मैं भोजन नहीं कर लेता, तबतक वह भोजन नहीं करती। मुझसे पहले उठती है, मेरे सो जानेके बाद सोती है। ऐसी मेरी पत्नी आज न आयी तो मेरा जीना वृथा है! मेरी स्त्री मुझे प्रसन्न हुआ देखकर प्रसन्न होती है, दुखी देखकर दुखी होती है, मैं बाहर चला जाता हूं, तो उसका मुख दीन-सा हो जाता है, मुझे बाहरसे आया हुआ देखकर कमलके समान खिल जाती है, मैं क्रोध करता हूं तो मधुर वाणी बोलती है! पतिका ही व्रत करनेवाली, पतिको ही परम गति माननेवाली, पतिके हितमें प्रीतिवाली मेरी स्त्रीके समान जिस किसीके स्त्री हो, उस पुरुषको पृथ्वीपर भाग्यशाली समझना चाहिये। तपका आचार करनेवाली मेरी स्त्री जब मैं थका-माँदा अथवा क्षुधातुर होता हूं तो तुरन्त जान जाती है! मुझमें ही उसका प्रेम है, मुझमें ही उसकी स्थिर भक्ति है और उस यशस्विनीका मुझमें ही परम स्नेह है। यदि पुरुष वृक्षके नीचे वास करता हो और वहां उसकी व्रतधारिणी प्रिया स्त्री हो, तो वह वृक्ष ही उसके लिये महल है। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों कार्योंमें स्त्री अपने पतिकी सहायता करनेवाली है और परदेश जाते समय पुरुषके लिये स्त्री विश्वासपात्र है। इस लोकमें स्त्री ही पुरुषका परम अर्थ है और सहायतारहित पुरुषके लिये लोक-व्यवहारमें सहायता करनेवाली स्त्री ही है, ऐसा शास्त्रमें कहा है। जो पुरुष रोगसे ग्रस्त हो

और भारी संकटमें पड़ा हो, उसके लिये स्त्रीके समान दूसरी औषध नहीं है, स्त्री-समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्री-समान कोई गति नहीं है और स्त्री-समान धर्मका संग्रह करनेवाला इस लोकमें कोई सहाय नहीं है, जिस पुरुषके घरमें साध्वी मधुरभाषिणी, हितकारिणी स्त्री न हो, उस पुरुषको वनमें चला जाना चाहिये क्योंकि उसके लिये घर और वन समान ही है। यही भाव इस श्लोकमें दिखाया है।

यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

पारधीके जालमें फँसी हुई कपोतिनी अपने स्वामीका ऐसा करुणाजनक विलाप और अपनी प्रशंसा सुनकर कहने लगी—

कपोतिनीः—ओहो! मैं बड़े भाग्यवाली हूं! मुझमें कोई गुण नहीं है तो भी मेरे प्रिय स्वामी इस प्रकार मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। जिस स्त्रीसे पति सन्तुष्ट न हो, उस स्त्रीको स्त्री नहीं समझना चाहिये, क्योंकि जब स्त्रीपर स्वामी प्रसन्न होता है, तभी उसपर सब देवता प्रसन्न होते हैं। अग्निदेवको साक्षी करके जिसको स्वामी स्वीकार किया है, वह स्वामी ही स्त्रीका परम दैवत है। जिस स्त्रीसे उसका स्वामी प्रसन्न नहीं होता, वह स्त्री उसी प्रकार भस्म हो जाती है, जिस प्रकार दावाग्निसे पुष्प और गुच्छ-सहित बेल जल जाती है।

इतना विचारकर दुःखसे पीड़ित पारधीके जालमें फँसी हुई कपोतिनी अपने स्वामीको दुखित देखकर इस प्रकार कहने लगीः—

कपोतिनीः—हे स्वामिन्! मैं आपके लिये एक कल्याणकारक उपाय बताती हूं, सुनिये, इस पारधीने आपके घरका आश्रय लिया है, यह शीत और भूखसे पीड़ित है, इसका सत्कार कीजिये। जिस किसीने ब्राह्मणकी हत्या की हो, लोकमाता गौकी हत्या की हो, अथवा शरण आये हुएकी हत्या की हो, ऐसा पापी भी घरपर आ जाय, तो गृहस्थको उसका भी सत्कार करना चाहिये। ऐसा धर्मशास्त्रका मत है। हम तुम कपोत हैं, कपोतकी जातिके धर्मके अनुसार ईश्वरने जो हमारी वृत्ति निर्माण की है, उस वृत्तिका आपके समान आत्मवान् पुरुषको अनुसरण करना चाहिये। यह न्याय है। मैंने यह सुना है कि जो गृहस्थ शक्तिके अनुसार धर्मका अनुवर्तन करता है, वह परलोकमें जाकर अक्षय लोकको प्राप्त होता है। हे स्वामिन्! आप प्रजावाले हैं, इसलिये अपने देहकी ममता त्यागकर धर्म और अर्थका ग्रहण करके जिस प्रकार पारधीका मन प्रसन्न हो, उसी प्रकार उसका सत्कार कीजिये!

पारधीके पिंजरेमें बन्द अति दुःखिनी तपस्विनी कपोतिनी इस प्रकार कहकर अपने स्वामीके मुखकी ओर देखने लगी। स्त्रीके धर्म और युक्तियुक्त वचन सुनकर कपोत पक्षी पारधीकी पूजा करनेको तैयार हुआ और इस प्रकार कहने लगाः—

कपोतः—हे पारधी! आप भले पधारे, बोलिये, मेरे लिये क्या आज्ञा है? आप किसी प्रकारकी चिन्ता न करें, आप समझें कि मैं अपने घरपर ही हूं। शत्रु भी अपने घरपर आवे तो उसका भी यथायोग्य आतिथ्य करना चाहिये, ऐसा नीतिशास्त्रका वचन है, क्योंकि वृक्षका काटनेवाला जब वृक्षके नीचे आता है तो क्या कभी वृक्ष अपनी छाया खेंच लेता है? जो शरणमें आया हो, उसका आतिथ्य-सत्कार अवश्य करना चाहिये और पञ्चमहायज्ञमें तो गृहस्थको विशेष प्रयत्नसे सत्कार करना उचित है, जो पुरुष गृहस्थाश्रममें रहकर मोहसे पञ्चमहायज्ञ नहीं करता, उसे यह लोक अथवा परलोक प्राप्त नहीं होता। आप मुझपर विश्वास करके जो आपके मनमें हो, निश्शंक होकर कहिये।

पारधीः—हे पक्षी! मैं जाड़ेके मारे काँप रहा हूं, जाड़ेसे मेरी रक्षा करो!

इतना सुनकर पक्षीने पृथ्वीपरसे सूखे पत्ते एकत्र किये। एक सूखा पत्ता लेकर अपनी चोंचसे

अग्नि लाकर सूखे पत्तोंमें अग्नि सुलगाई। अग्नि प्रज्वलित हो गयी, पारधी तापने लगा। अग्निकी गर्मीसे उसके प्राण लौट आये और वह प्रसन्न होकर कहने लगाः—

पारधीः—हे पक्षी! मुझे भूख लग रही है, यदि हो सके तो मेरे लिये भोजनका प्रबन्ध कर!

कपोतः—हे अतिथि! आपकी क्षुधा निवृत्त करने योग्य मेरा वैभव नहीं है। हम तो नित्य कुवाँ खोदते हैं, नित्य पानी पीते हैं, रोज चारा लाते हैं, रोज खा जाते हैं, एकत्र नहीं करते। जैसे गृहस्थ भोजनके लिये सञ्चय करते हैं, ऐसे हम नहीं करते!

हे बेटियो! ऐसा कहते हुए पक्षीका मुख सूख गया और वह बहुत चिन्तातुर होकर अपनी वृत्ति-की इस प्रकार निन्दा करने लगाः—

कपोतः—हरे! अब मैं क्या करूं? हम सञ्चय नहीं करते, यह बहुत खोटी बात है, क्योंकि सञ्चय हो तो समयपर अतिथिका सत्कार हो सके।

इतनेहीमें उसे एक बात याद आगयी और प्रसन्न होकर उसने पारधीको आश्वासन दिया तथा इधर-उधरसे बहुतसे पत्ते एकत्र करके अग्नि प्रज्वलित कर इस प्रकार कहने लगाः—

कपोतः—ऋषि, देवता, महात्मा, पितृ और अतिथिका पूजन ही गृहस्थका परम धर्म है, ऐसा मैंने सुना है, इसलिये हे प्रिय अतिथि! कृपा करके तू मुझे अङ्गीकार कर! मैं तुझसे सत्य कहता हूं कि अतिथिके पूजनमें मेरी बुद्धि निश्चयात्मिका है।

इतना कहकर बुद्धिमान् पक्षी हँसते-हँसते प्रतिज्ञा करता हुआ अग्निकी तीन प्रदक्षिणा करके अग्निमें प्रवेश कर गया। पक्षीको अग्निमें पड़ा हुआ देखकर पारधी विचार करने लगाः—

पारधीः—हाय! मैंने यह कैसा घोर कर्म किया! मुझे अवश्य महाभयंकर अधर्मकी प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है। निरपराधी पक्षीकी मैंने हिंसा की है, ऐसा हिंसक कर्म करनेवाले मुझको धिक्कार है! मुझ दुष्ट और बुद्धिहीनने महापाप किया है, दुष्कृत करके जीनेवाले मुझको नित्य पाप लगेगा! मैं अत्यन्त दुष्टबुद्धि और कपटी हूं, शुभकर्मको छोड़-कर दीन पक्षियोंको जालमें पकड़ता हूं, यह महानिन्दित कर्म है। महात्मा कपोतने अपने देहको जलाकर मुझ सरीखे दुष्टको पवित्र उपदेश दिया है, इसमें सन्देह नहीं। मैं अपने प्रिय प्राण, पुत्र और स्त्री इन संबको छोड़ दूंगा! इस कपोत महात्मा-ने निश्चय मुझे धर्मका उपदेश दिया है। आजसे मैं इस देहको सब प्रकारके भोगोंसे रहित करके सुखाऊंगा! भूख-प्यास, सर्दी-गर्मीको सहकर केवल नसोंसे व्याप्त कृश शरीरवाला हो जाऊंगा और अनेक प्रकारकी उपासनाएं करके परलोक-सम्बन्धी धर्म प्राप्त करूंगा। इस पक्षीने अपना देह अर्पण करके अतिथि-पूजनका महान् उपदेश दिया है, अब मैं धर्मका आचरण करूंगा क्योंकि धर्म ही परम गति है। इस उत्तम पक्षीमें मैंने जैसा धर्म देखा है, इसी प्रकारके धर्मका मैं आचरण करूंगा।

ऐसा निश्चय करके रौद्र कर्म करनेवाले उस पारधीने अपनी लकड़ी, सलाई, जाल, पिंजरा और पिंजरेकी कपोतिनीको छोड़ दिया और उपर्युक्त धर्म करनेके लिये महाप्रस्थानके मार्गमें चला। पारधीके जानेके पश्चात् शोकातुर कपोतिनी अपने पतिका स्मरण करके इसप्रकार विलाप करने लगीः—

कपोतिनीः—हे नाथ! आपने कभी मेरा अप्रिय किया हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता। विधवा स्त्री अनेक पुत्र होनेपर भी पति बिना शोकको प्राप्त होती है। पति बिना तपस्विनी स्त्रीका भी बान्धव शोक करते हैं। हे स्वामिन्! आपने मुझे निरन्तर लाड़ लड़ाये थे, मधुर वचन बोलकर आप सदा मेरे मनको हरण करते थे! पर्वतोंकी गुहाओंमें, नदियोंके झरनोंमें और रमणीय वृक्षोंकी चोटियोंपर मैं आपके साथ रमण करती थी। आकाशमें उड़ती हुई क्रीड़ा करती हुई आपके

साथ मनमें फूली नहीं समाती थी ! आप अनेक क्रीड़ाएँ करते थे, आज वे सब बातें समाप्त हो गयीं ! पिता, पुत्र और भाई स्त्रीको नियमित सुख देते हैं, परन्तु स्वामी तो अपरिमित सुखका दाता है ! ऐसे आप स्वामीकी पूजा मैं क्यों न करूं ? स्वामीके समान स्त्रीका दूसरा प्रभु नहीं है और स्वामीके समान स्त्रीका दूसरा सुख नहीं है ! स्त्रियोंको धन और सर्वस्व त्यागकर स्वामीके शरण होना चाहिये क्योंकि पतिके सिवा स्त्रीको शरणमें रखनेवाला कोई दूसरा नहीं है ! हे नाथ ! आपके बिना अब मैं इस लोकमें नहीं जिऊंगी ! पति बिना कौन मूढ़ स्त्री जीनेका उत्साह करेगी ?

इस प्रकार बहुत विलाप करती हुई कपोतिनी प्रदीप्त अग्निमें प्रवेश कर गयी, उसी समय वह देखती है कि उसका स्वामी दिव्यशरीर धारण किये विमानमें बैठा हुआ है, पुण्यवान् महात्मा उसका पूजन कर रहे हैं, वह अनेक प्रकारकी दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण किये है, सर्व अलंकारोंसे शोभायमान है। कपोतिनी भी दिव्य देह धारणकर उसके साथ हो ली। कपोत अपनी स्त्रीसमेत स्वर्गमें गया और वहां अनेक प्रकार सुखोपभोग करने लगा। पारधी कठिन तप करता हुआ एक भयानक वनमें पहुंचा और वहां अग्नि लगी हुई देखकर अत्यन्त हर्षको प्राप्त होकर उस अग्निमें जल मरा और यक्ष, गन्धर्व तथा सिद्धोंके मध्यमें इन्द्र-समान शोभित होते हुए उसने अपनेको स्वर्गमें देखा। इस प्रकार पुण्य कर्मका आचरण करनेसे कपोत, पतिव्रता कपोतिनी और पारधी तीनों स्वर्गको प्राप्त हुए। हे बेटियो ! जो स्त्री कपोतिनीके समान आचरण करनेवाली होकर स्वामीका अनुसरण करती है, वह कपोतिनीके समान स्वर्गमें जाकर सुख भोगती है !

हे बेटियो ! अन्तमें यही कहना है कि संसार असार है, फिर भी जो अपने वर्णाश्रमके अनुसार अनुवर्तन करके भगवान्का पूजन करते हैं, उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष उनके हाथमें ही हैं। गृहस्थाश्रम सबसे बड़ा आश्रम है। इसीपर अन्य तीनों आश्रम निर्भर हैं। इसलिये यह आश्रम सबसे उत्तम है। यद्यपि गृहस्थाश्रमका पालन करना कठिन है तो भी जिनको सत्यासत्यका विचार है, उनके लिये कठिन नहीं प्रत्युत सहजमें ही सुखका देनेवाला और आनन्दस्वरूप अक्षय परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। सत्यासत्यका, हे बेटियो ! सर्वदा विचार किया करो और सबसे हिल-मिलकर राग-द्वेषरहित अपना जीवन व्यतीत करो ! अब तुम दोनों बहिनें इस घरकी मालिकिन और स्वतन्त्र हो ! मैं तुम्हारे कार्यमें दखल नहीं दूंगी, अपनी कोठरीमें एकान्तवास करके अपना शेष जीवन भजनमें व्यतीत करूंगी ! अपने अपने पतियोंकी आज्ञानुसार बरतना, कुटुम्ब और अतिथिकी सेवा करना। जिस बातमें शंका हो, माताजीसे पूछ लिया करना और कथावार्ता नित्य-प्रति सुना करना ! अच्छा ! तुम्हारा कल्याण हो !

दोनों जेठानी-देवरानी अपनी हितैषिणी सासका उपदेश सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुईं और उसका अनुकरण करके सर्वदाके लिये सुखी हो गयीं।

चितचोर

मन-मन्दिर माँहि मनोहरता
मृदुतामय मोहन मूर्ति बसी।
कलकञ्ज कलेवर कोमलता
कमनीय कटी कछनीक कसी ॥
चितचोर चुराय चलो चितको
चख चञ्चल चारु चकोर ससी।
बरनै न बनै बनवारि बली
मन मोह लियो कर 'शील' हँसी ॥

गंगाशरण शर्मा 'शील' बी० ए०

गीताका सांख्ययोग

(लेखक—रावबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजी)

भगवद्भक्त और उपासकोंके प्राणरूप, भक्तिरसपीयूपके एकमात्र अगाध ह्रद और श्रीकल्याण भगवान्‌के हृदय-रूप 'कल्याण'के कार्त्तिक सं० १९८६ के अंकमें पृष्ठ ६७० से "गीतोक्त सांख्ययोग" नामक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें महानुभाव जयदयालजी गोयन्दकाके पहले लेखपर एक काशीस्थ विद्वान् महाशयके द्वारा की गयी शंकाएं और श्री-जयदयालजीके द्वारा किये गये उनके समाधान उल्लिखित हैं—

जिसने 'कल्याण' के पांच सात भी अंक देखे होंगे, उसके हृदयपर श्रीजयदयालजीका नाम अंकित हुए बिना नहीं रहा होगा, क्योंकि कदाचित् ही कोई अंक हो जो इनके भक्तिरस-पूर्ण, मधुरभाव-सम्पन्न, हेतुगर्भित और युक्तियुक्त लेखोंसे विभूषित न हो, और जो काशीस्थ पूर्वपक्षी विद्वान् हैं, उनकी योग्यताका अनुमान तो उनके उन वचनोंसे हो सकता है जिनके द्वारा उन्होंने पूर्वोक्त शंकापूर्वक पूर्वपक्ष खड़ा किया है क्योंकि अनुभवी और शास्त्रज्ञ विद्वान्‌के बिना ऐसा रहस्य प्रकट नहीं हो सकता। प्रयोजन यह है कि यह शास्त्रार्थ दो प्रकाण्ड विद्वानोंमें परस्पर हो रहा है और विषय भी मुक्तिवाद-सम्बन्धी है जो असाधारणरूपसे गम्भीर और जटिल है।

इस दशामें यदि कोई तीसरा व्यक्ति बीचमें कुछ कहना चाहे तो वह अनधिकार चेष्टा ही नहीं किन्तु बालवत् लीला समझे जाने योग्य है और इस उर्दूकी कहावतके अनुसार कि 'नक्कारखानेमें तूतीकी कौन सुनता है' उसपर किसीका ध्यान भी कदाचित् ही जाय।

इन विचारोंसे भले ही हृदयमें कैसे भी भाव होते। मुझ जैसे अल्पमतिको तो शिथिलता और साहसहीनताका होना स्वाभाविक था किन्तु भगवत्-प्रेरणासे तत्काल श्रीगोस्वामीजी महाराजके इन वचनोंका स्मरण हो जानेसे, कि 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई' अपने भावोंके प्रकट करनेका सहसा उत्साह उत्पन्न हो गया। इस लेखमें कुछ सार या तत्त्व है और इसका कितना मूल्य है इस बातको विवेकसम्पन्न और विचाररसिक महानुभाव स्वयं देख लेंगे।

दोनों महानुभावोंके वचनोंपर ध्यान देनेसे जो बात सूक्ष्मरूपसे मेरी समझमें आयी है, वह यह है कि काशीस्थ विज्ञ सज्जनने जो प्रमाणादि दिये हैं वे इस पक्षको सिद्ध करते हैं कि 'मुक्ति ज्ञानसे ही होती है, कर्मसे नहीं, इसीलिये कर्मयोग और ज्ञान-योग (सांख्ययोग) दोनों निष्ठाएं स्वतन्त्र नहीं हैं' इत्यादि।

इसपर श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने जो समाधान किया है उसका भी आशय मेरी अल्प बुद्धिमें पूर्वपक्षके मतसे भिन्न नहीं है, क्योंकि आपका मुख्य वचन यह है कि 'जिस प्रकार सांख्य-योगीको साधन करते करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ मोक्ष मिल जाता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगीको भी साधन करते करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ ही साथ मुक्ति मिल जाती है।' दोनों दशाओंमें परम सीमा ज्ञानकी प्राप्ति है और उसीके द्वारा मुक्तिका लाभ होता है जिसका दूसरे

शब्दोंमें इसके अतिरिक्त और क्या प्रयोजन हो सकता है कि मोक्षके निमित्त ज्ञानकी अनिवार्यता है। बस, यही मत तो पूर्वपक्षका है।

इस प्रकार परिणाममें तो दोनोंकी एकता हो गयी। परन्तु श्रीजयदयालजीके समाधानमें एक बात स्पष्ट होनेकी परम आवश्यकता है। आपने निष्काम कर्मयोगी और सांख्ययोगी दोनोंको ही साधन करते करते ज्ञान-प्राप्ति बतलायी है, सो निष्काम कर्मयोगीका साधन तो अप्रसिद्ध नहीं और जहांतक विचारकी गति है इस साधनसे आपका अभिप्राय भी फलाभिसन्धान-वर्जित शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठानसे ही होगा किन्तु सांख्य-योगीके लिये इससे पृथक् आपका और किस साधनसे प्रयोजन है, यह बात स्पष्ट समझमें नहीं आयी। जब आप स्पष्ट शब्दोंमें यह कहते हैं कि केवल साधनकालमें दोनों निष्ठाओंमें भेद है तो सांख्ययोगके साधनकी विधि अवश्य ही भिन्न होनी चाहिये। इन दोनों साधनोंका अन्तर आपने अपने पहले लेखमें बताया है, परन्तु वह मेरे सम्मुख नहीं है। यद्यपि साधनके सम्बन्धमें समाधान स्पष्ट नहीं है परन्तु फलमें मतभेद नहीं है और वेदान्त-मतानुसार यह सर्वथा ठीक है, क्योंकि वेदान्तमें कर्मकी आवश्यकता केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही समझी गयी है, मोक्ष-प्राप्ति तो ज्ञानके बिना नहीं हो सकती।

यह ठीक है कि ज्ञानके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता परन्तु अब यहां यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर कर्मानुष्ठान यथापूर्व रहे या उसका त्याग कर दिया जाय। इसपर पूर्व पक्षके दिये हुए वचनोंसे भी आशय यही निकलता है कि उसका त्याग होना चाहिये और श्रीजयदयालजी-का भी ऐसा ही वचन है कि पूर्ण-ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग है और न निष्काम कर्मयोग ही है। यह मत भी वेदान्तके ही अनुकूल है और इसीके आधारपर श्रीशंकर भगवान्की सम्प्रदायका भी यह निश्चय है कि ज्ञान कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता अर्थात् आत्मवित् (ज्ञानी) के लिये कर्म नहीं घटता, जिसको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि ज्ञान वही है, जिसमें कर्मका स्वरूपसे संन्यास हो।

इस सिद्धान्तपर पहुँचनेसे एक भारी जटिल समस्या उत्पन्न होती है क्योंकि यों कथनमात्रको कर्मका स्वरूपसे त्याग बताया जा सकता है, परन्तु श्रीभगवान्ने जैसी आज्ञा की है कि "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" इस प्राकृतिक नियमानुसार उसकी सम्भावना कैसे हो सकती है? स्वयं वेदान्तियोंको ही देखा जाय, शरीर-निर्वाहार्थ हस्तादान, मुखादान, पादसञ्चालनादिकी समस्त चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं और सर्वोपरि जो पूर्ण ज्ञाननिष्ठ महात्मा हैं वे लोकोपकारक उपदेशादि सब कुछ किया करते हैं। स्वयं श्री-शंकर भगवान्को ही देखा जाय, उन्होंने संसारके हितार्थ क्या नहीं किया और ऐसा प्रायः सभी ज्ञाननिष्ठ पुरुष और स्वयं श्रीभगवान् भी अवतार-रूपमें आविर्भूत होकर, और नहीं तो लोक-संग्रहार्थ ही सदैव करते रहते हैं, जैसा कि यह वचन है—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी भूपो जनकराघवौ,
वशिष्ठः कर्म कर्ता च एते हि ज्ञानिनः समाः।

इस दशामें कर्मके स्वरूपसे त्यागवाले सिद्धान्त-के घटानेमें पूर्ण अड़चन प्राप्त होती है और यही हेतु है कि श्रीशंकर भगवान्की सम्प्रदायने भिक्षाटनको कर्म नहीं माना है। किन्तु इस निर्णय-से सन्तोष नहीं होता क्योंकि ऐसा कोई विशेष कारण नहीं बताया गया कि एक ऐसे जघन्य कर्म-को तो बन्धनका हेतु कर्म न माना जाय और जो अन्य कर्म कर्त्तव्य-बुद्धि या निष्कामभावसे किया जाय उसे बन्धनका हेतु समझा जाकर ज्ञानका बाधक माना जाय।

बस, उलझनका यही मुख्य हेतु है कि जिससे मतभेद होकर स्वपक्षमण्डन या परपक्ष-खण्डनकी दशा प्राप्त हो गयी। यदि वस्तुतः देखा जाय तो श्रीभगवद्गीताजीका जन्म इसी जटिलताको सुलझानेके लिये हुआ है। यदि दीनवत्सल करुणा-निधान श्रीभगवान् अपने प्रकाशकी छटाको संसार-पर न छिटकाते तो इस अन्धकारकी निवृत्ति सर्वथा असम्भव थी।

श्रीभगवान्ने दोनों विरोधी मतोंका समन्वय करते हुए ऐसे गम्भीर किन्तु सरल व सुबोध सिद्धान्तका उद्घाटन किया है कि जो और किसी-के भी द्वारा सर्वथा असम्भव था। सर्वप्रथम ज्ञान-योग (सांख्ययोग) का स्वरूप प्रकाशित किया गया है, जिसका संक्षेपसे यही आशय है कि आत्मा नित्य है, उसका कभी नाश नहीं और आत्मेतर देहादि सर्व पदार्थ अनित्य हैं, जो नाशवान् हैं।

इसके अनन्तर फलमें अधिकारके निषेधपूर्वक केवल कर्ममें अधिकार निर्देश करनेके द्वारा कर्म-योगका लक्षण कहा गया है और यह भी सिद्ध किया गया है कि कोई प्राणधारी कर्म बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।

इस निरूपणके द्वारा श्रीभगवान्ने यही बताया है कि जब कोई भी प्राणी प्रकृतिके नियमानुसार क्रियाहीन नहीं रह सकता तो फलकी इच्छा बिना उपर्युक्त ज्ञानपूर्वक ही कर्त्तव्य-कर्म क्यों न किया जाय जो बन्धनका हेतु न होकर मोक्षका हेतु हो।

इस निर्णयसे इन दोनों बातोंका समाधान होता है कि एक ओर तो श्रुतिका वचन है कि बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता, वह भी चरितार्थ हो गया, क्योंकि बिना ज्ञानके कोरा कर्म उल्टा बन्धनकारी है अतः मोक्षमें मुख्यता ज्ञानकी ही है और दूसरी ओर जो कर्मका अनुष्ठान बताया गया है वह वस्तुतः संकल्पपूर्वक कर्म नहीं है किन्तु वह तो शरीरके धर्मरूपमें स्वतः होता है क्योंकि जब शरीरमें इन्द्रियां हैं तो उनकी क्रियाओंका होना भी अनिवार्य है। हाँ, बुद्धिका यह काम अवश्य है कि उन क्रियाओं-का प्रवाह असत्-मार्गमें न जाने पावे।

यह श्रीभगवान्का उपदेश देहानुसन्धानकी दशामें प्रकृतिके नियमानुसार है, जिसमें कर्मका स्वरूपसे त्याग असम्भव है और ऐसी दशामें केवल ज्ञान और कर्मका ही समुच्चय नहीं होता है किन्तु इसकी दृढ़मूलकताके लिये श्रीभगवान्के आश्रयरूप उपासनाकी भी आवश्यकता होती है।

यहां एक समस्या और समाधान-योग्य है कि क्या कर्मका स्वरूपसे त्याग नितान्त असम्भव है? श्रीगीताजीके सिद्धान्तपर पूर्ण ध्यान देनेसे विदित होगा कि प्रकृतिके नियमानुसार तो वह अवश्य असम्भव ही है किन्तु उस जगन्नियन्ताकी शक्तिका क्या प्रकृतिके नियमोंसे अवरोध हो सकता है? वह अपरिमेया या अकल्पनीया है और उसके अद्भुत व अनुपम चमत्कारोंमें मनुष्यकी बुद्धिकी कोई गति नहीं। बस, यह उसी शक्तिका चमत्कार है कि जो प्रकृतिधर्मसे असम्भव बात कही गयी। उसका भी सम्भव होना सिद्ध किया गया। पांचवें अध्यायमें यद्यपि प्रकृति-नियमानुसार मनुष्य-बुद्धि-गम्य और सबके अधिकारका विषय होनेके कारण बताया है श्रेष्ठ कर्मयोगको ही, किन्तु अस्तित्व कर्मसंन्यासका भी स्पष्टरूपसे प्रकट किया गया है। वास्तवमें कर्मका स्वरूपसे त्याग देहानुसन्धानकी दशामें निर्विकल्प समाधि या तन्मय ध्यानके अवसरपर ही यथार्थ-रूपसे घट सकता है, जब सम्पूर्ण इन्द्रियां स्वतः निश्चेष्ट हो जाती हैं।

अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार ये अपने भाव महत्-पुरुषोंकी सेवामें समर्पित किये जाते हैं। धृष्टताके लिये क्षमा-प्रार्थना है।

विवेक-वाटिका

मनके निग्रह करनेसे योगीको निर्भयता, दुःखोंके अभाव, ज्ञान और अक्षय शान्तिकी प्राप्ति होती है... अतएव निरन्तर प्रयत्न करके मनका निग्रह करना चाहिये।
—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

यह अस्थिर और चञ्चल मन ज्यों ज्यों संसारमें जाय, त्यों-ही-त्यों इसे लौटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।
—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

जिस पुरुषका मन कामादि विषयोंसे हारा हुआ नहीं होता, वही योगकी साधना कर सकता है। कामादि विषयोंसे पराजित मनवाला मनुष्य योग-साधन नहीं कर सकता।
—महाभारत

❀ ❀ ❀ ❀

जो पुरुष ईश्वरके तत्त्वसे अनभिज्ञ लोगोंको अमृतरूप ज्ञानका प्रकाश दिखलाकर सन्मार्गपर ले आता है उस दयालु दीनबन्धु पुरुषपर सभी देवगण कृपा करते हैं।
—मैत्रेय

❀ ❀ ❀ ❀

विषयसुख घने बादलोंमें चमकनेवाली बिजलीकी भाँति चञ्चल है, हमारी आयु हवासे बिखरे हुए बादलोंके जलके सदृश क्षणस्थायी है और यह जवानीकी लालसा भी शीघ्र ही नष्ट हो जायगी, इसलिये बुद्धिमान्को चाहिये कि वह मनको धैर्यके साथ एकाग्र करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये लगावे।
—भर्तृहरि।

❀ ❀ ❀ ❀

प्राणघात, चोरी और व्यभिचार, ये तीन शारीरिक पाप हैं; असत्य, निन्दा, कटुभाषण और व्यर्थभाषण, ये चार वाणीके पाप हैं और परधनकी इच्छा, दूसरेके अनिष्टकी इच्छा तथा सत्य, अहिंसा, दया, दान आदिमें अश्रद्धा, ये तीन मानसिक पाप हैं
—बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

विवेक हो तो बस्तीमें रहनेमें भी धर्म है और जंगलमें रहनेमें भी, विवेक बिना दोनोंमें ही अधर्म है।—महावीर स्वामी

❀ ❀ ❀ ❀

जो दयालु हैं, उन्हींपर भगवान्की दया होगी; जिसका मन शुद्ध है, उन्हींको भगवान्के दर्शन होंगे; जो धर्मके लिये सताये जाते हैं, स्वर्गका राज्य उन्हींका होगा और जो धर्मके पिपासु हैं, उन्हींकी तृप्ति होगी।
—ईसामसीह

❀ ❀ ❀ ❀

जब तुम सांसारिक कामनाओंको छोड़ दोगे, तभी शोक और दुःखसे छूटकर सच्चे सुख और शान्तिको पा सकोगे। —मन्सूर उमर

❀ ❀ ❀ ❀

हे जीव! यदि तू भगवान्की इच्छानुसार चलना चाहता है तो उसकी शरणके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जो मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपनेको चलाना चाहता है वह स्वयं अपनेको धोखा देता है। —मोलिन्स

❀ ❀ ❀ ❀

जिसमें जितना प्रेम है, वह उतना ही ईश्वरके समीप पहुँचा हुआ है—उतने अंशमें वह प्रभुमय बन गया है, क्योंकि प्रभु स्वयं अपार प्रेममय हैं।—राल्फ वाल्डो ट्राइन

❀ ❀ ❀ ❀

जिसके हृदयमें प्रेम पूर्ण होता है, प्रेमके देवता स्वयं ईश्वर ही उसका योगक्षेम चलाया करते हैं।—रबिया

❀ ❀ ❀ ❀

जगत्में छोटे ही सुखी हैं, ग्रहण चन्द्रमा और सूर्यको ही लगता है, तारे तो आकाशमें सुखसे रहते हैं, इसीलिये साधु दीनता चाहते हैं और दुष्ट मान चाहते हैं।—सहजोबाई

❀ ❀ ❀ ❀

जिनके हृदयमें दया और धर्म बसते हैं, जो अमृत-वाणी बोलते हैं और जिनके नेत्र नम्रतावश नीचे रहते हैं, असलमें वे ही ऊँचे हैं।
—मलूकदास

❀ ❀ ❀ ❀

हे मेरी आत्माके प्रियतम स्वामी! मैं तुमको ही चाहूँगी, मुझे और कोई भी वस्तु प्यारी न लगने दो, जो वस्तुएँ मुझे तुमसे दूर हटाती हों, वे मुझे जहर-सी लगने लगें। एकमात्र तुम्हारी इच्छा ही मेरे लिये मधुर हो,—तुम्हारी इच्छा ही मेरी इच्छा बन जाय! —एलिजाबेथ

अनीश्वरवादका संग्राम

(लेखक—श्रीसदानन्दजी सम्पादक 'मेसेज')

बड़े ही दुःखका विषय है कि कतिपय नवयुवक नेताओंद्वारा प्रारम्भ किये हुए अनीश्वरवादके संग्रामकी ओर देशका ध्यान अभी गम्भीरताके साथ आकर्षित नहीं हुआ है। दूसरी ओर वह आन्दोलन हमारे नवयुवकोंके हृदयपर अपना दृढ़ अधिकार जमाकर उन्हें पथभ्रष्ट कर रहा है, जिससे भारतकी भावी आशालताओंका नैतिक पतन होता जा रहा है। परमात्मा जानें, इसका अन्त कहांपर होगा !

यह आन्दोलन केवल हिन्दू-जातिके लिये ही नहीं, प्रत्युत सभी जाति और सभी धर्मोंके अनुयायियोंके लिये हानिकर है। हमारी विनम्र सम्मति तो यह है कि इस दुष्ट आन्दोलनसे देशको बचानेके लिये सबको मिलकर शीघ्र ही एक महान् प्रयत्न करना चाहिये। यदि आज इसकी उपेक्षा की गयी तो आगे चलकर हमें बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा, और तब, सम्भवतः प्रयत्नका अवसर भी हाथसे निकल जायगा।

धर्म ही भारतकी आत्मा है। यही हमारे पूर्वजोंकी दी हुई महान् पैत्रिक सम्पत्ति है। धर्म ही हमारा जीवन है और धर्म ही हमारे प्राण हैं। धर्महीन भारत तो श्मशान बन जायगा। हमारा सब कुछ जाता रहा, अब भी जीवन-ज्योति जगानेके लिये एक धर्म बच रहा है, कहीं इस धर्मका विनाश हो गया तो फिर हम सदाके लिये अन्धकारमें प्रवेश कर जायंगे। अतएव इस अभागे देशके प्रत्येक शुभ-चिन्तकका यह कर्तव्य है कि अपनी समस्त शक्ति लगाकर प्रत्येक सम्भव साधनसे इस धर्मकी रक्षा करे। बस, इस समय यही हमारा सर्वप्रधान कर्तव्य है।

इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि राजनैतिक क्षेत्रका त्याग कर दिया जाय। राजनीति तो हमारे धर्मका केवल एक अङ्ग है, वह पार्थिव वैभव प्राप्त करनेका साधन है, परन्तु वह हमारा वास्तविक ध्येय और साध्य कदापि नहीं है। हमारा सर्वोत्तम वैभव तो धर्ममें है, इस धर्मका जो आध्यात्मिक भाग है, उसीसे हमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। यथार्थ राजनीति तो केवल आध्यात्मिक बलपर ही निर्भर है। सम्भव है कि धर्मसे विच्छिन्न राजनीतिसे पार्थिव बल और सुख प्राप्त हो जायं परन्तु उससे अनन्त आनन्दकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। राजनीतिसे धर्मको पृथक् करनेकी अपेक्षा हमें उचित है कि धर्मकी सुदृढ़ भित्तिपर ही राजनीतिका निर्माण करें, क्योंकि धर्म ही राजनीतिकी शक्ति है और धर्म ही राष्ट्रको ऐक्यसूत्रमें बांधनेका प्रथम साधन है।

जिन देशोंने धर्म और ईश्वरका त्याग कर दिया, वे उसका भयानक दण्ड भी भोग रहे हैं। वहांके निवासियोंकी दशाका पूरा अध्ययन करनेसे यह पता चलता है कि वे वास्तवमें सुखी नहीं हैं। जर्मनी, जो किसी समय संसारमें सबसे अधिक शक्तिशाली देश समझा जाता था, आज एक शृङ्खलाबद्ध सिंहके सदृश अपनेसे कहीं हीन प्रतिद्वन्द्वियोंके चरणोंमें नतमस्तक होकर पड़ा हुआ है। राक्षसी शक्तिशाली रूस, जिसके प्रबल प्रतापसे सूतिका-गृहके नव-जात शिशु तक आतंकसे कांप उठते थे, आज धर्मका उच्छेद करने और मार्क्स सदृश मनुष्योंके

आदेशका अनुसरण करनेसे उपद्रव और अशान्तिका केन्द्र बना हुआ है, और अब इस सिद्धान्तके प्रचारक वहांके अनेक नेता अपनी महान् जड़तापर मन-ही-मन पश्चात्ताप कर रहे हैं। आज भारतवर्षकी क्या अवस्था है? सारी शक्ति लगाकर जिस दलकी स्थापना की गयी थी, जिस सुसंगठित दलके ऊपर किसी समय देशको बड़ी भारी आशा थी, यहांतक कि विचक्षण राजनीतिज्ञ महात्मा गांधी सदृश पुरुषने जिसके सम्मुख बिना किसी शर्तके आत्मसमर्पण कर दिया था, आज उसकी जीवन-तरणी मतविभिन्नता और अन्तःकलहके महान् सागरमें पड़ी हुई भीषण तरङ्गाघातोंसे टकराकर चूर होना चाहती है। इसका कारण क्या है? कारण जाननेके लिये अधिक सूक्ष्म-बुद्धिकी आवश्यकता नहीं, ईश्वर और धर्ममें श्रद्धाका अभाव, अथवा ईश्वरके प्रति घृणा और उसके अस्तित्वमें अविश्वास ही इसका प्रधान कारण है। लोग इसे 'राष्ट्रीयता' कहते हैं; अवश्य ही यह प्रतिहिंसायुक्त राष्ट्रीयता है!

साधु वासानी कहते हैं कि "जब मैं ईश्वरका अस्वीकार करनेवाली राष्ट्रीयता और आभ्यन्तरिक जीवनके प्रति नवीन सन्ततियोंके हृदयमें अविश्वास-का वेग बढ़ता हुआ देखता हूं तो मैं घबरा उठता हूं। 'ईश्वरमें श्रद्धा' ही भारतवासियोंकी संस्कृतिका केन्द्र और उनका मूलाधार है। भारत और समस्त संसारके लिये एक ही सन्देश है, वह है—आध्यात्मिक धर्म।"

धर्म न तो साम्प्रदायिकतामें है, न वह अन्ध-विश्वास तथा धर्मोन्मत्ततामें है और न वह जाति और दुराग्रहोंकी संकुचित सीमाके अन्दर ही है। वह तो एक विशाल मानव-संस्कृति है जो ईश्वरके साथ मनुष्यका और मनुष्यके साथ मनुष्यका अभेदरूपसे सम्मेलन करा देती है। वह किसी देश, जाति या व्यक्तिविशेषमें सीमित नहीं है। वह समस्त संसारके लिये है। हम सन्तानोंकी मुक्तिके लिये परमपिता प्रभुका प्रदान किया हुआ एक पुरस्कार है। धर्म ही तो मानव-जातिका सर्वोच्च अधिकार है जिसने उसको विश्वके समस्त प्राणियोंसे श्रेष्ठ बना रक्खा है। अतएव धर्मका ध्वंस करना,—ईश्वरका त्याग करना—विपत्ति और विनाशको निमन्त्रण देकर बुलाना है!

बड़े परितापका विषय है कि हमारे नेतागण, जिन्हें परमात्माने हमें सत्परामर्शद्वारा पथ-प्रदर्शन करनेके लिये नियुक्त किया है, राजनीतिमें इतने निमग्न और तल्लीन हो रहे हैं—इतने उन्मत्त हो रहे हैं कि उन्हें इस बातको सोचनेका अवसर ही नहीं मिलता कि हमारे इन पथच्युत युवक नेताओंके अनीश्वरवादी आन्दोलन और विनाशक उपदेशोंसे देशमें कैसा अनर्थ और संकट आनेवाला है।

इस आन्दोलनका कुप्रभाव हमारी बाल-सन्तति-के मस्तिष्कमें कहां तक प्रवेश कर गया है, हमारे बालकोंकी कल्पना-कुञ्जोंपर इसने अपना कैसा अधिकार जमा लिया है, इसका पता हमारे एक सम्माननीय मित्रद्वारा उल्लिखित घटनासे भलीभांति लग सकता है। कटकमें एक वकील हैं। एक दिनकी बात है, उनके दशवर्षीय पुत्रने कहा कि 'पिताजी! मैं आपकी बातोंको अब और अधिक नहीं सुनना चाहता, आज मेरे मास्टर साहबने कहा है कि तुम्हें अपने माता-पिताकी बातें सुनने-की—उनकी आज्ञा माननेकी—कोई आवश्यकता नहीं।' पिताने पूछा, 'अच्छा, अब तुम किसकी बात सुनोगे?' लड़केने उत्तर दिया—'मैं अपने अन्तःकरणकी आवाज सुनूंगा।' पिताने पूछा 'तुम्हारे अन्तःकरण-की आवाज क्या है?' बालकने कुछ हिचकिचाहटके बाद जवाब दिया—'जिस बातको मैं ठीक समझूंगा जिससे मुझे प्रसन्नता होगी, मैं वही करूंगा।' अब विचारिये, बेचारे पिताको कैसी मुंहकी खानी पड़ी होगी। पता नहीं, आज अपने अपरिपक्क मस्तिष्कवाले बालकोंद्वारा कितने पिताओंको ऐसे प्रत्यादेश सुनने पड़ते होंगे। अवश्य ही इस समय इनकी संख्या बहुत बढ़ गयी है।

हमारे नेतागण और देश-कल्याण-कामी सज्जन कबतक इस महान् घातक अनीश्वरवादके आन्दोलनकी उपेक्षाकर इधर दृष्टिपात नहीं करेंगे? वे कबतक इस विषयकी ओरसे आंख मूँदे पड़े रहेंगे। भारत-सन्तान! जागो, उठो, अब व्यर्थ खोने, प्रतीक्षा करने और सोचनेके लिये समय नहीं रह गया है, अश्रुतपूर्व भयानक विपत्ति-समूह हमारे द्वारतक आ पहुंचा है। अब या तो इससे भारतवर्षको बचा लो अथवा तो सदाके लिये इसे विनष्ट हो जाने दो!

अभी हमारे लिये निराश होनेका कोई कारण नहीं है। उस अनन्त दयासागर करुणामूर्ति परमपिताकी असीम दयाका हमें पूरा भरोसा है। भगवान् श्रीकृष्णने क्या हमें यह दिव्य सन्देश नहीं दिया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

हे भारत! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं (भगवान्, धर्मकी रक्षाके लिये) अवतार धारण करता हूं।

इस सन्देशमें, इस आशा और पवित्रताके सन्देशमें हमारा दृढ़ विश्वास है, यद्यपि स्थिति हमारे सर्वथा विपरीत और निराशाजनक है, तथापि यह निश्चय है कि हमें ईश्वरीय-सहायता अवश्य प्राप्त होगी। पौराणिक कालसे, राजा वेणुके ही समयसे, जिसने धर्मका विध्वंस करना ठान लिया था, भारतवर्षको अनेक बार नास्तिकवादके आक्रमणका सामना करना पड़ा है, किन्तु प्रत्येक अवसरपर इसकी रक्षा हुई है और अब पुनः इसकी रक्षा होगी।

ईश्वर हमारी सहायता करें, अपने भक्त-भय-भञ्जन हस्तकमलोंसे हमें पथ प्रदर्शित करें, वह रहस्यपूर्ण शक्ति हमें बल प्रदान करे और हमारी क्रियाओंमें उसकी चेतनता अवतीर्ण हो!*

आलम्बन

१—इस जगतीमें प्रत्येक वस्तु किसी न किसीपर अवलम्बित है। पत्रावलिका मृदु मर्मर-स्वर मधुर समीरके हलके-से झोकेका अपेक्षित है। श्याम मेघोंकी रिमझिम वर्षा ग्रीष्मकी सूर्य-किरणोंपर अवलम्बित है।

२—दीपकका प्रोज्ज्वल, शुभ्र प्रकाश सनेहके सहयोगकी अपेक्षा करता है। बाँसुरीका मनोमुग्धकर, अमृतमय राग उसके सुरीले छिद्रोंका आलम्बन रखता है।

३—लता-मण्डपकी प्रफुल्ल हरीतिमा रिमझिम वर्षाके अमृत-विन्दुओंकी अपेक्षित है। कलाधरकी शीतल, श्वेत चन्द्रिका सूर्य-रश्मियोंपर अवलम्बित है।

४—रङ्गी मयूरका मत्त नाच जलदागमनका अपेक्षित है। सुरीली कोयलकी मादक कूक वसन्तागमनपर अवलम्बित है। और, इन्हीं-सब-सी, मेरे जीवनकी कविता तेरे प्रेमके विविध परिवर्तनोंपर आलम्बित है।

—बालकृष्ण बलदुवा

* यह लेख 'मेसेज' के विद्वान् सम्पादक श्रीसदानन्दजीके अंगरेजी लेखका अनुवाद है। 'मेसेज' अंगरेजी मासिकपत्र आनन्दाश्रम, गोरखपुरसे निकलता है। इसका वार्षिक मूल्य केवल १) है। प्रत्येक ईश्वरवादी अंगरेजी जाननेवाले स्त्री-पुरुषोंको इस मासिकपत्रका अध्ययन करना उचित है। इसमें सरल और सरस भाषामें ईश्वरवाद और सार्वभौम सनातन-धर्मका प्रतिपादन किया जाता है। —सम्पादक

दीक्षा-ग्रहण *

लोगोंका शोक यदि थोड़ा बहुत शिथिल हो भी जाता तो निमाईका हाल देखनेसे वह फिर सौगुना उमड़ पड़ता था। निमाई कभी तो आनन्दसे दोनों हाथ उठाकर तरह तरहसे नृत्य करने लग जाते मानों आनन्द उनके हृदयमें समाता ही नहीं है, और कभी वृन्दावनकी ओर देख "आया, आया" कहकर (मानों कोई उन्हें पुकार रहा है और वे उसको उत्तर दे रहे हैं) उसी ओर जानेकी चेष्टा करने लगते और भक्त लोग उन्हें सँभालने लगते थे। इसी बीच निमाईने सचेत होकर भारतीजीसे पूछा— 'अब कितना विलम्ब है?'

कटवामें क्रन्दनकी ध्वनि होने लगी। कोई अपने आप बैठा बैठा रो रहा है और कोई वहाँसे ज़रा अन्तरपर जाकर रो रहा है। कोई ज़ोर ज़ोरसे रो रहा है और कोई चुपचाप आँसू बहा रहा है। कोई इतना अधीर हो गया है कि रो भी नहीं सकता, पर छाती पीट-पीटकर ज़मीनमें लोट रहा है। कोई 'क्या हुआ, क्या हुआ' कहकर दूसरोंसे सान्त्वना प्राप्त करनेके लिये सहायता माँग रहे हैं, किन्तु कोई दे नहीं सकता। कोई कोई माननीय लोगोंके पैर पकड़कर कहता है 'तुम्हीं जाकर रोको, कभी संन्यासी न होने दो। तुम अवश्य ही रोक सकोगे।' किसी किसी स्त्रीकी दशा उन्मादिनी सरीखी हो गयी। वह बाल बिखराये हुए, लोगोंकी भीड़को ठेलकर, निमाईके आगे कटी जड़के पेड़की तरह गिर पड़ी और कहने लगी—'बेटा, तुम संन्यास मत लो।' अन्य स्त्रियाँ और लोगोंकी खुशामदकर कहने लगीं— 'अरे तुम खड़े खड़े क्या देखते हो? जल्दी जाकर इनकी माताको ख़बर दो। वह आदमी भेजकर इन्हें घर बँधवा बुलावें।'

किसीको तो वाह्यज्ञान न रहा और कोई अचेत हो गयी। कोई एकदम पागल हो गयी। कोई प्रलाप करने लगी। कोई अपने आपको शची समझकर बोली—'अरे निमाई, गोदमें आ जा'। यह कहकर वह उन्हें गोदमें लेनेको आगे बढ़ी। कोई अपनेको विष्णुप्रिया समझ उसी भावसे अपना सिर पीटने लगी। कोई कोई पुरुष अपने आपको निमाई समझ, अधिरूढ़भावसे, निमाईकी तरह नृत्य करने लगे।

इस बीच बहुतसे मृदङ्ग और करताल आदि बाजे आ गये। अब सङ्कीर्तनके अनेक दल हो गये। वे लोग इधर उधर बड़े जोरसे "हरि हरये नमः" गाने और हरिबोल कहकर नृत्य करने लगे।

भक्तोंने सोचा कि प्रभुने अभी संन्यास नहीं लिया है तब तो यह हाल है, उनके संन्यास ले लेनेपर न जाने क्या होगा।

श्रीगौराङ्गने सवेरे ही गम्भीर स्वरसे

* निमाई संन्यास ग्रहण करनेके लिये केशवभारतीजीके पास कटवा जा पहुंचे। पीछेसे श्रीनित्यानन्द, मुकुन्द, निमाईके मौसे चन्द्रशेखर आदि आये। पहले भारतीने उन्हें दीक्षा देना स्वीकार नहीं किया, परन्तु निमाईके प्रभावसे उन्हें स्वीकार करना पड़ा। सुन्दर नवयुवक निमाईको संन्यासी होते देखकर चारों ओर सहस्रों नर-नारी रो रहे हैं, सारा कटवा मानो शोकसागरमें डूबा जा रहा है।

श्रीअमियनिमाई-चरितके द्वितीय भागसे श्रीलक्ष्मीप्रसादजी पाण्डेय द्वारा अनुवादित।

चन्द्रशेखर आचार्यसे कहा— 'पिताजी, इस कार्यके जो नियम हैं वे सब आप कर दें। मैंने आपको अपना प्रतिनिधि किया।'

यह आज्ञा सुननेसे चन्द्रशेखरको कैसा बुरा लगा होगा, उसका अनुभव किया जा सकता है। वे प्रभुके पितृस्थानीय हैं। शची समझती हैं कि मेरा बावला लड़का बहुत कुछ दूसरोंके परामर्शसे बहक जाता है। निमाई उन लोगोंका यदि कोई अपना होता तो वे लोग उसे हर्गिज़ न बहकाते। चन्द्रशेखर घरके आदमी हैं, वे अवश्य निमाईको बहक जानेके लिये उत्साहित न करेंगे। यही सोच समझकर उन्होंने चन्द्रशेखरको अपने पुत्रके लौटा लानेके लिये भेजा था। अब उन्हीं चन्द्रशेखरसे प्रभुने कहा 'तुम हमारे प्रतिनिधि बनकर हमारे संन्यास धारण करनेमें सहायता करो।' चन्द्रशेखरने सोचा कि इस समय प्रभुका जैसा रंग ढंग है उसको देखते हुए कहना पड़ता है कि यदि यहांपर शची होतीं तो प्रभु उन्हींको आज्ञा देते कि 'माँ, तुम संन्यासकी सब सामग्री एकत्र कर दो।' यदि यह आज्ञा हमारे बदले किसी और व्यक्तिको दी जाती तो अच्छा होता। शची माता और बहूरानी-से जाकर हम क्या कहेंगे? यही न कहना होगा कि हम अपने हाथसे तुम्हारे दुर्लभ धनको, घर न लाकर, पानीमें बहा आये? प्रभो, तुम सदासे बड़े निर्दय हो। मैं करूं यह काम और तुम करो मज़ेमें नृत्य! जो हो, मैं अब नदिया न जाऊँगा— गङ्गामें कूद पड़ूँगा।

चन्द्रशेखर मनमें कुछ भी सोचा-समझा करें, किन्तु मुँहसे कुछ कहनेका साहस उन्हें न हुआ। केवल 'जो आज्ञा' कहकर कार्यमें प्रवृत्त हो गये। किन्तु उन्हें कुछ अधिक काम नहीं करना पड़ा। संन्यासके लिये आवश्यक सभी सामान, खबर पाते ही, लोग अपने आप लाने लगे। जब सती-दाह होता था तब लोगबाग रोते-पीटते हुए चिता बनानेके लिये लकड़ियां ढोकर लाते थे। इसी प्रकार लोग रोते हुए वहांपर दही, मिठाई, वस्त्र, फूल और चन्दन आदि सामग्री ला कर उपस्थित करने लगे। जहां अनुष्ठान होना था, उस स्थानमें सामग्रीका ढेर लग गया। चन्द्रशेखर स्नान करके स्वयं कुश-पूजा करने लगे।

अब नाई आया। नाई क्योंकर आया, यह श्रीभगवान् ही जानें। वहांपर आनेकी उसे इच्छा ही न थी। कटवामें जितने नाई थे उनमें वह इज़्ज़तदार (चौधरी) था। इसी कारण यह बुलाया गया और वह आ भी गया। नापितके आनेके लिये सबने रास्ता कर दिया, क्योंकि संन्यासके लिये प्रधान सहायक नापित ही होता है। उस समय वह नापित भी एक प्रधान नायक था। उसके मनमें मानों कुछ भी दुःख न था। वह मज़ेमें चला आया और इसी प्रकार बेखटके प्रभुके आगे आकर पूछने लगा–'महाराज, क्या आज्ञा है?'

प्रभुने उससे कहा—'हे नापित, वृन्दावन जानेके लिये मुझे मुक्त कर दे। तेरे ऊपर दयामय कृष्ण कृपा करेंगे।' नापितने कहा—'महाराज, इस बस्तीमें नाइयोंकी कमी नहीं है। आप चाहे जिसे बुला सकते हैं। मुझसे आपका यह काम न हो सकेगा।'

प्रभुने उत्तर दिया—'हरिदास, बैठ जाओ। अपने प्राणनाथ श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिये मैं वृन्दावन जाऊंगा। मेरे इन केशोंने मुझे बाँध रक्खा है। इस बन्धनकी दशामें मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। तुम मुझे मुक्त कर दो, तुमपर श्रीकृष्ण कृपा करेंगे।'

नाईने कहा—'महाराज, तुम तो मुक्त कर देनेके लिये कहते हो और मैंने उत्तर दिया है कि बस्तीमें पचासों नाई मौजूद हैं, उनमेंसे किसीको बुलवा लो। मुझसे यह काम न हो सकेगा।'

प्रभुने कहा—'नापित, तुम मेरा बन्धन काट दो, इससे तुम्हें सौभाग्य प्राप्त होगा, तुम्हारा

वंश बढ़ेगा और तुम्हें सब प्रकारका सुख मिलेगा। अन्तमें तुम्हें वैकुण्ठमें रहनेको स्थान मिलेगा।'

नाईने कहा—'मैं सौभाग्य नहीं चाहता, जो कुछ मुझे प्राप्त है वह भी न रहे तो कुछ परवा नहीं। अब तुम मुझे वैकुण्ठका लोभ दिखाते हो? सो उसकी भी मुझे चाह नहीं। मेरे साथ मेरा वंश घोर नरकमें गिरे। महाराज, मुझसे तुम्हारा यह काम न होगा।'*

अपनी जननी, गृहिणी और भक्तोंसे विदा माँगकर तथा भारतीको लाचार करके अन्तमें श्रीभगवान् एक क्षुद्र नापितसे हारकर बैठ रहे। फिर उन्होंने ऊपरको मुँह उठाकर कहा—'हरिदास, मेरा सिर मूँड़नेमें तुम्हें कौनसी अड़चन है, कौन-सा एतराज़ है? किस अपराधके कारण तुम मुझे ऐसा दुःख दे रहे हो?'

नापितने भी उसी प्रकार ऊपरको मुँह करके कहा—'आपको क्या संसारभरमें और कोई नाई नहीं मिला? मैंने ही भला आपका क्या बिगाड़ा है जो इतने नाइयोंके रहते हुए भी आप मुझीसे यह काम कराना चाहते हैं? महाराज, मैं जैसे लक्षण देख रहा हूँ उससे प्रतीत होता है कि आप संन्यास लिये बिना न रहेंगे। अब आप एक काम कीजिये। यदि आपका जी नहीं मानता तो संन्यासी हो जाइये, पर सिर न मुँड़ाइये।'

प्रभुने मुसकुराकर कहा—'हरिदास, बिना मुण्डन कराये काम कैसे बनेगा? सिर मुँड़ाये बिना संन्यासी होनेका नियम नहीं है।'

नाईने कहा—'तो फिर आपका संन्यास हो चुका। मैं तो आपका सिर मूँड़ ही नहीं सकता, और शायद कोई और नाई भी आपके सिरको न मूँड़ सकेगा। मेरा हृदय सदासे बड़ा कठोर रहा है, फिर भी मैं आपका सिर मूँड़ नहीं सकता, तब और कोई यह काम कैसे कर सकेगा? महाराज, मैं आपको अपने मनकी बात सुनाता हूँ। मैंने बहुतोंके सिर मूँड़े हैं किन्तु तुम्हारे जैसे बढ़िया केश हैं ऐसे तो मैंने अपने बापके समयमें भी किसीके नहीं देखे। इन सुन्दर घुँघराले केशोंपर मैं किस तरह छुरा चलाऊँगा? मुझसे यह न होगा। आमदनीकी आशासे तुम्हारा सिर मूँड़ते समय मेरा हाथ काँपने लगेगा, इससे तुम्हारे सिरमें छुरा लग जायगा। ऐसा होनेपर मुझे लाभ होना तो अलग रहा, मेरा सर्वनाश हो जायगा।'

अब प्रभुने बहुत ही करुण-स्वरमें विनती करके नापितसे कहा—'हरिदास, विलम्ब होनेके कारण मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। तुम कृष्णके भक्त हो, मैं तुम्हारे उन्हीं ठाकुरजीकी खोजमें जा रहा हूँ। मेरा बन्धन काट दो, मुझे मुक्त कर दो। हरिदास, मैं तुमसे विनती करता हूँ।'

नापित टकटकी लगाकर निमाईके मुँहकी ओर देखने लगा और फिर बोला—'मैंने समझ लिया! मैं सोच रहा था कि तुम्हारे लिये मेरे प्राण इस तरह क्यों रो रहे हैं? तुम वही सबके नाथ, सबके स्वामी श्रीकृष्ण हो! मैं मूर्ख हूँ, इसलिये तुम मुझे धोखा दे रहे हो। महाराज, मैं बहुत ही हीन,

* मेरे भाग्यका भले ही नाश हो जाय, मैं प्रभुके माथेपर हाथ किस प्रकार रक्खूँगा। यदि कोढ़ होनेपर मेरे अङ्ग गल जायं और मेरा वंश घोर नरकमें गिरे तो भी मैं प्रभुका मुण्डन न करूँगा। (चैतन्यमङ्गल)। प्रस्तुत ग्रन्थमें चैतन्यमङ्गलके अनेक अंश उद्धृत हैं जोकि छपी हुई पुस्तकमें नहीं हैं। छापेखानेमें छपी हुई चैतन्यमङ्गलकी किसी भी प्रतिमें प्रभुके साथ नापितकी बातचीतका वर्णन नहीं है। काँकड़ा-हुसेनपुर निवासी श्रीप्राणवल्लभ चक्रवर्ती इस समयसे कुछ पहले चैतन्यमङ्गल ग्रन्थके गीतोंके प्रधान गायक थे। पहलेपहल उन्हींके घर लोचन ठाकुरके पद सुरोंमें बैठाये गये थे। वे वंश-परम्परासे उक्त चैतन्यमङ्गलके गीत गाया करते थे। वे कहा करते थे कि हमारे घर लोचन ठाकुरके हाथकी लिखी चैतन्यमङ्गलकी प्रति है। उसकी एक नक़ल उन्होंने इस ग्रन्थके मूल लेखकको दी थी। उसी पुस्तकके कुछ अवतरण मूल लेखकने अपने ग्रन्थमें उद्धृत किये हैं।

बिल्कुल नीच जाति हूं, तुम क्या मेरा वध करनेके लिये इस बार धराधाममें पधारे हो ? महाराज, और किसीको बुला लीजिये।'

प्रभुने देखा कि बड़ी विपत्ति है, तब कुछ तो विनती और कुछ आज्ञाके भावमें कहा—'हरिदास, तुम मेरे बन्धनको काट दो, संन्यासका शुभ मुहूर्त आ रहा है, मैं अब और विलम्ब नहीं कर सकता। तुम मुझको बन्धनकी दशामें छोड़कर जो दुःख दे रहे हो उसका एक बार खयाल तो करो। मेरा उपकार करो, मैं तुमसे विनती कर रहा हूं।'

नापितने देरतक प्रभुके साथ युद्ध किया। प्रभुके साथ जब उसकी बातचीत छिड़ी तब भीड़में सन्नाटा छा गया। सभी लोग चित्तको एकाग्र करके अबोध भक्तका चक्रधारी श्रीभगवान्‌के साथ युद्ध देखने लगे। नापितको पहले हमलेमें विजयी होते देख सभी उसको साधुवाद देने लगे। अन्तमें जब प्रभुकी पेश नहीं आयी तब उन्होंने प्रभुत्वकी सहायता लेकर नापितको आज्ञा दी। तब कहीं उसने लाचार होकर पराजय स्वीकार किया। नापितने प्रभुसे कहा—'यदि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँ तो मेरा हृदय फट जायगा। फिर तुम ठहरे भगवान्, यदि तुम्हारी आज्ञाका पालन न करूं तो भी नहीं बनता। महाराज, अब आप एक और विचार करें। हमारा पेशा ऐसा है कि हमें सात जातके पैरोंके नाखून छीलने पड़ते हैं। भला आपके माथेपर मैं अपने जिन हाथोंको रक्खूंगा उन्हींसे मैं और लोगोंके पैर कैसे छुऊंगा ? यदि मैं ऐसा करूंगा तो अपना और जिसके पैर पकड़ूंगा उसका भी सर्वनाश कर दूंगा। महाराज, मैं आपका नापित होनेसे संसारभरमें धन्य हो जाऊंगा, फिर भला मैं और किसके यहां नाईका पेशा करने जाऊंगा ?'

प्रभुने उत्तर दिया—'हरिदास, तुम अपना पेशा छोड़कर मधुमोदकका व्यवसाय करने लगो। तुम कृपा करके हमको मुक्त कर दो, श्रीकृष्ण तुम पर कृपा करेंगे।'

अब नाऊठाकुर नीचे सिर झुकाकर आँसू बहाने लगा। उसके परास्त होनेपर और लोगोंकी रही सही आशा भी जाती रही। प्रभुका सिर मूँड़नेमें नाईके आपत्ति करनेपर लोगोंको जो थोड़ी बहुत आशा हो गयी थी सो अनुचित थी। क्योंकि जिसने शची और विष्णुप्रियासे सम्मति प्राप्त कर ली उसके लिये बेचारे नापितको राज़ी कर लेना कौन बड़ी बात थी ? किन्तु मनुष्यका धर्म ही यह है, जो नास्तिक हैं– कुछ भी नहीं मानते– वे भी विपत्ति आ पड़नपर शान्ति-स्वस्त्ययन, पूजापाठ अथवा नीच व्यक्तिके द्वारा दैवक्रिया (झाड़ फूँक) करवाया करते हैं। जब नाईने मुण्डन कर देना स्वीकार कर लिया, तब सभीने समझ लिया कि सर्वनाशका समय उपस्थित है। निमाई अब घर-गृहस्थीसे अलग हुए। निमाई चले, अब उन्हें घर-गृहस्थीके बीच फँसा रखनेका कोई उपाय नहीं। बस, कानमें भारतीके मन्त्र देनेभरकी देरी है। वही एक काम बाकी रह गया है। अब यदि भारती संन्यासी निमाईको मन्त्र न दे तो उन्हें एक प्रकारसे घर-गृहस्थीके बीच फाँस लिया जा सकता है। अतएव ऐसा किया जाय जिससे भारती मन्त्र ही न दे सकें। यही सोच विचारकर लोगोंने भारतीको घेर लिया।

समझदार लोगोंने कहा—'भारती महाराज, तुम ऐसे बालकको संन्यास देकर अशास्त्रीय काम मत करना। पचास वर्षकी उम्रसे कम अवस्थावालोंको संन्यास नहीं दिया जाता। यदि तुम ऐसा अशास्त्रीय काम करोगे तो केवल नारीवधके पातकके भागी होगे क्योंकि इनकी वृद्धा जननी है और नवयुवती गृहिणी है। फिर उसके कोई बाल-बच्चा भी तो नहीं हुआ।'

भारतीने उत्तर दिया—'शास्त्रका तात्पर्य यह है कि पचास वर्षकी उम्र होनेसे पहले रागकी

निवृत्ति नहीं होती, इसीलिये निर्दिष्ट अवस्थासे प्रथम संन्यास देनेकी मनाही है। किन्तु ये तो मनुष्य नहीं हैं, यह आप लोग प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। इसके सिवा ये अपनी जननीकी और गृहिणीकी सम्मति लेकर संन्यासी होने आये हैं।' विज्ञ लोगोंने भारतीके इस उत्तरसे ज़रा चिढ़कर कहा— 'स्वामीजी, आप देखते नहीं हैं कि असंख्य नर-नारी दुःख और शोकसे अधीर हो रहे हैं ? आपके ज़रा-सी कृपा करते ही इन लोगोंके दुःखका फन्दा कट जायेगा।'

भारती अपने मनमें सोचने लगे कि हमपर वृथा आक्षेप हो रहा है; हम तो निरपराध हैं। हाँ, लोगोंके सामने इस बातको प्रमाणित करनेकी हमें इच्छा नहीं होती। उन्होंने ज़रा चिढ़कर विज्ञजनोंकी ओर देखा और कहा— 'मैं संन्यासी हूं, मुझमें कुछ दयामाया नहीं होनी चाहिये। ये जो हैं सो हैं, ये बालक हैं, इनका हृदय मक्खनकी तरह मुलायम है। इनके लिये तुम लोग शोकाकुल हो रहे हो। मेरी ख़ुशामद करना छोड़, तुम लोग क्यों नहीं इनको समझा-बुझाकर लौटा ले जाते ?'

समझदार आदमियोंने ज़रा-सा बिगड़कर कहा—'महाराज, यह बात आप अनुचित कहते हैं, इन्हें क्या इस समय ज्ञान है ? ये तो प्रेममें उन्मत्त हैं शायद हम लोगोंकी बात इनके कानोंतक पहुंच भी न सके। आपको तो ऐसी कोई शिकायत इस समय है नहीं, इसलिये आप क्यों ऐसा गर्हित काम करते हैं ?'

अब बलवान् युवकलोग शान्त न रह सके। उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको लक्ष्य करके कहा— 'आप लोग ज़रा जगह कर दें। संन्यासी बड़ा कठोर है, इसकी ख़ुशामद या प्रार्थना करनेसे काम सिद्ध न होगा। जैसा रोग है उसके अनुरूप ही हम लोग दवा करते हैं।' यह कहकर वे लोग क्रुद्ध हुए और इस बातको भूल गये कि जिस प्रकार स्त्रियां अवध्य हैं उसी प्रकार संन्यासीपर भी हाथ उठाना मना है। उन्होंने लाठियां ले लेकर भारतीजीको घेर लिया। अब उन लोगोंने गर्जन-तर्जन करना आरम्भ कर दिया। वे गालियां देकर ही शान्त नहीं हुए बल्कि मारपीट करनेपर भी उतारू हो गये। किसी किसीने यह भी कहा कि 'संन्यासीजीके हाथ एक अच्छा शिकार आ फँसा है, इसीसे बेचारे लोभको सँभाल नहीं सकते।' किसीने कहा— 'तुम्हारे प्राण ले लिये जायं तो कुछ पाप नहीं है। तुम संन्यासी नहीं, तुम तो हिंस्र पशु हो।' किसीने कहा— 'देरकी क्या ज़रूरत ? इसे डराना धमकाना बेकार है। देखते नहीं कि यह कैसा बेधड़क बैठा है। चतुर संन्यासी यह समझे बैठा है कि ये केवल बंदरघुड़की दिखा रहे हैं। सब लोग मिलकर इसे पकड़ लो और कन्धोंपर लादकर ले चलो। इसके बाद नावपर चढ़ाकर गङ्गाके उस पार छोड़ आओ।'

इसपर भारती उठकर खड़े हो गये और बोले- 'तुम लोग यदि मेरा वध कर सको तो मेरे साथ मित्रका-सा बर्ताव हो। जिनको तुम यहांपर देख रहे हो ये साक्षात् पूर्णब्रह्म सनातन हैं। इन्हें मैं रोक नहीं सका। संसारमें और भी कोई ऐसा नहीं जो इन्हें रोक सके। यदि किसीमें रोकनेका सामर्थ्य होता तो यह जो उनके पितृस्थानीय मौसा आचार्यरत्न बैठे हैं, वे क्या रोक न सकते ? मैं जो लाचार होकर गोलोकके अधिकारीको कौपीन धारण कराकर भिक्षुक बनाये देता हूं, सो इसका दुःख मुझे चिरकालतक सताता रहेगा। इस कलङ्कसे मैं किसी भी तरह न बच सकूंगा। संसारभरके भक्त मुझे कोसेंगे-शाप देंगे। अतएव, तुम लोग दया करके मेरे प्राण ले लो और मेरी यन्त्रणा मेट दो।' यह कहकर संन्यासीजी फूट फूटकर रोने लगे। उन्होंने बहुत साधन करके जिस ज्ञानको प्राप्त किया था उसका लेश भी उस समय उनमें न रहा। प्रभुको सम्बोधन करके उन्होंने कहा- 'वत्स निमाई, तुम्हारे मनमें क्या यही था ?' अब सबकी

समझमें आ गया कि भारतीजी निरपराध हैं।

इधर व्याकुल नापितसे श्रीगौराङ्गने अत्यन्त विनती करके कातरस्वरमें कहा—'हरिदास, शुभ मुहूर्त अत्यन्त समीप आ गया है। संसारके बन्धनसे मुझे मुक्त कर दो, मैं वृन्दावनको चला जाऊँ।' अब नापितको वाह्यज्ञान हुआ, इससे वह प्रभुके आगे बैठा। नापित काँपने लगा और प्रभु उसे ढाढ़स बँधाने लगे।

गौरके भक्तलोग सदैव जीवोंको यह कहकर दोष दिया करते हैं कि तुम्हींने हमारे प्रभुको घर-द्वारसे बाहर निकाला। जीव यदि कुकर्मान्वित न होते, अथवा मुग्ध होकर उनकी ओरसे ला-परवा न होते तो उनके संन्यास ग्रहण करनेकी कुछ आवश्यकता ही न होती। भक्त लोग दुःखके साथ कहा करते हैं कि 'हे जीवो, तुम्हें धिक्कार है। तुमने सर्वाङ्गसुन्दर श्रीभगवान्‌को लँगोटी लगवा दी।' किन्तु जीवोंकी तरफ़से हम एक बात कहते हैं। श्रीभगवान् जब संन्यास-धर्मको ग्रहण करनेके लिये प्रवृत्त हुए तब जीवमात्र—फिर चाहे वे भक्त हों या अभक्त, अपने हों या पराये—सभी सन्तप्त हृदयसे धूलमें लोटे थे।

जब प्रभुके आगे नाई बैठ गया तब ऐसा लगा मानों त्रिभुवनमें हाहाकार हो रहा है। वहांपर उपस्थित व्यक्तिमात्र 'क्या हुआ, क्या हुआ' कह कर धूलमें लोटने लगे। कोई एकदम मूर्च्छित हो गया, किसीको होश न रहा और बहुत दिनों तक 'निमाई निमाई' कहकर रास्तेमें रोता-पीटता हुआ भटकता फिरा। यह बात दूसरोंकी है, निजी लोगोंकी नहीं। प्रभुके निजी आदमी यदि उस समय अचेत हो जाते तो काम न बनता, इसलिये वे लोग पत्थरकी तरह कड़ा जी करके बैठे रहे। किन्तु उन लोगोंने कपड़ेसे अपना अपना मुँह छिपा लिया। हम भी यहां लेखनीको विश्राम देते हैं। महाजनोंने इस स्थानका जैसा वर्णन किया है उसीके आधारपर हम यहां कुछ उद्धृत करेंगे।

श्रीजगन्नाथमिश्रने जो यह स्वप्न देखा था कि निमाई संन्यासी हो गया है और उसके पीछे पीछे करोड़ों आदमी उसको नमस्कार करते जा रहे हैं; श्रीमती विष्णुप्रियाको कुहवरमें जाते समय जो पैरमें चोट लगी थी ब्राह्मणने जो शाप दिया था कि 'निमाई पण्डित, तुम्हारा घर-गृहस्थीका सुख नष्ट हो' शास्त्रमें भगवान्‌के सहस्र नामोंके बीच जो यह पद है "संन्यासकृच्छमो शान्तो निष्ठा शान्तिपरायणः" सो यह सब इतने दिनोंके बाद सफल होने चला।

प्रभुके आगे नाई बैठ गया। जो लोग उसके समीप बैठे थे वे कपड़ेसे मुँह छिपाकर रोदन करने लगे। प्रभुके चरणोंका स्पर्श करते ही नापित प्रेममें अधीर हो गया। वह सिर मूँड़नेके बदले प्रेमके मारे थर थर काँपने लगा; आंखोंमें बेहद आंसू भर आनेके कारण वह एक प्रकारसे अन्धा हो गया।

जो लोग पीछेकी ओर थे उन्होंने सुना कि प्रभु सिर मुँड़वानेको बैठ गये। तब सब लोग निराश होकर, जिसकी जैसी प्रकृति थी उसीके अनुसार, अपने अपने मनका वेग प्रकट करने लगे। उसी क्षण बहुतोंने यह निश्चय कर लिया कि हम अब घर-गृहस्थीमें फँसे न रहेंगे। किसी किसीने इस नवीन संन्यासीके साथ वनमें जानेका पक्का इरादा कर लिया। किसी किसीको ऐसा जँचा कि हम पागल हो रहे हैं। किसीको भी ठीक ठीक होश-हवाश न रहे। दूरसे सब लोग अधीर होकर उच्च स्वरसे पूछने लगे— 'कितना सिर मुँड़ गया?' 'क्या मुण्डन हो चुका?' 'क्या मुण्डन होने लगा?'

किन्तु मुण्डन हो क्योंकर? नाई तो अस्तुरेको नीचे रखकर नृत्य कर रहा था। एक बार नृत्य करते करते आगे आकर भूमिमें लोट करके प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करता और फिर उठकर प्रभुको आगे करके नृत्य करते करते पीछेकी ओर चला जाता। प्रभु स्वयं मोहित होकर उसका नृत्य देखने लगे। उन्होंने अपने मनके वेगको रोककर

कातर-स्वरसे कहा—'हरिदास, शुभ मुहूर्त उपस्थित-प्राय है, तुम हमको मुक्त कर दो।' यह सुनकर नापित इस तरह चौंक पड़ा जैसे कोई अचानक नींदसे जाग कर चौंक पड़े। अब वह मुण्डन करनेके लिये बैठ गया।

किन्तु उसका हाथ काँपने लगा, हाथसे अस्तुरा नीचे गिर पड़ा। अन्तमें काँपते काँपते वह धूलमें गिरकर लोटने लगा। प्रभु अब उसके शरीरपर अपना कर-कमल फेरने लगे। इससे नापित फिर शान्त होकर उठ बैठा। किन्तु अकेले नापित ही का अपराध न था, बल्कि प्रभु तो स्वयं बीच बीचमें, सिर मुँड़वाना बन्द करके, नाचने लग जाते थे।

प्रभुने कहा—'हरिदास, मुझे थोड़ी देरके लिये क्षमा करो, मैं ज़रा सा नृत्य कर लूँ।' बुढ़िया माताको और नवीन गृहिणीको त्यागकर संन्यास लेनेके लिये सिर मुँड़ानेको बैठ गये और इसी बीचमें 'मैं ज़रासा नृत्य कर लूँ' कहनेका अधिकार तीनों लोकोंके बीच हमारे प्रभुके सिवा और किसीको नहीं है।

प्रभु नृत्य करने और बीच बीचमें नापितके दोनों हाथ पकड़कर दोनों जने नाचने लगे। निमाईकी जिनपर बहुत ही अधिक कृपा होती थी उन्हींके हाथ पकड़कर वे नाचते थे। यह सौभाग्य इनेगिने लोगोंको प्राप्त होता था। नापितके ऊपर प्रभु बहुत ही सदय थे। क्योंकि वही उनके बन्धनको काट रहा है। इस ढंगसे कहीं क्षौरकार्य समाप्त होता है? बड़ी देरमें किसी तरह प्रभुका मुण्डन हुआ।

मुण्डन हो चुकनेपर लोगोंके ज़बानी यह ख़बर चारों ओर फैल गयी। केश देखनेके लिये सब लोग धक्कामुक्की करने लगे, किन्तु उनको हाथसे छूनेका साहस किसीको भी नहीं हुआ। नापितका कार्य समाप्त हो चुकनेपर प्रभु स्नान करनेको दौड़े। लोगोंके मुँहसे सबको यह ख़बर मिली, तब उस ओर सभी गये। गगनभेदी हरिध्वनिके साथ सब लोग—जो कूदने लायक थे—गङ्गामें कूद पड़े। केशव भारतीके स्थानपर अकेले भारतीजी ही रह गये।

नापित भी गङ्गाजीपर पहुंचा। अब वह अपने छुरा-कैंची आदि औज़ारोंका क्या करे? उसे अब उनकी ज़रूरत नहीं, क्योंकि अब वह नाईका पेशा न करेगा। उन्हें कहींपर रख देनेकी भी उसे इच्छा न हुई। अतएव उन्हें अपने मस्तकपर रखकर वह गङ्गाकी ओर नाचता हुआ चला। गङ्गामें धँसकर उसने अपनी किसबतको औज़ारों समेत दूर धारामें फेंक दिया।

प्रभुके केशोंकी समाधि और नापितकी समाधि अबतक कटवामें मौजूद है। नापितकी समाधि 'मधुमोदक' की समाधिके नामसे प्रसिद्ध है। सुना गया है कि वहांपर लोटनेसे पापी और तापीका हृदय भी पवित्र एवं शीतल हो जाता है।

प्रभु नहा धोकर गीले कपड़े पहने भारतीके समीप आये। उनके साथ-साथ सभी लोग गीले कपड़े पहने हरिध्वनि करते हुए वहां आये। प्रभुको आते देख भारतीजी गेरुवा रंगके कपड़ेके तीन टुकड़े हाथमें लेकर खड़े हो गये। इनमें एक थी लँगोटी और दो थे ऊपरसे लपेटने और ओढ़नेके लिये कपड़े। भारतीको हाथमें वस्त्र लिये खड़े देख निमाईने हाथ जोड़कर वस्त्र माँग लिये। वस्त्र मिलनेपर निमाईने उन्हें भक्तिपूर्वक अपने मस्तकपर रख लिया।

निमाई जब कृतार्थ होकर मस्तकपर गेरुवा वस्त्र रक्खे हुए खड़े हुए तब मानों तीनों लोक विगलित होगये। सिर्फ यही करके नहीं रह गये, बल्कि हमारे गौर रसिकशेखर उन वस्त्रोंको मस्तकपर रक्खे हुए हाथ जोड़कर सब लोगोंसे अनुमति माँगने लगे। उन्होंने कहा—'मेरे मित्रो, और माता-पिताओ, तुम लोग अनुमति दो, अब मैं भव-सागरसे पार हूंगा। तुम लोग मुझे आशीर्वाद दो, जिससे व्रजमें मुझको कृष्ण मिल जायं।'

(शेष फिर)